रेत
का
वृन्दावन

रेत का वृन्दावन

आशापूर्णा देवी

बंगला की कथा-महिषी

आशापूर्णा देवी

से एक भेंट

●

सुशील गुप्ता

'याद की याद में ! पहले आप मुझे डांट लीजिए ! मैंने बहुत देर कर दी न ?' मन ही मन यह 'मुआफी' दुहराते हुए, मैं आशा दी के यहां शाम को साढ़े पांच के बजाय साढ़े छह बजे पहुंची हूं। एक बच्ची खबर दे गई है, 'ठाकुर-मां' पूजा-घर में हैं। आप बैठिए।'

मैं उनके किताब-घर में खो जाती हूं। दो मंजिले पर, कोने में एक कमरा, जिसमें किताबें भी हैं, खिलौने भी। आशापूर्णा देवी—लगभग १६५ पुस्तकों की सर्जिका, हजारों कहानियों की लेखिका, नारी-स्वातन्त्र्यता की दुर्दर्प हिमायती—वयोवृद्ध लेखिका आशापूर्णा देवी। बाहर से अतिशय सरल, विनम्र और ममतामयी, अंदर से अन्याय-अत्याचार के खिलाफ अंगारे उगलती हुई, इस सशक्त लेखिका ने आधुनिक बंगला-साहित्य के कई-कई कालों और युगों को अपने में समेट लिया है, उन्होंने अवरोधों में जकड़ी नारी की व्यथा-कथा को वाणी दी, पुरुष-शासित समाज की तानाशाही के खिलाफ विद्रोह उकसाया। 'प्रथम-प्रतिश्रुति', 'सुवर्णलता', 'बकुल-कथा'—ये तीन बृहद् उपन्यास, उनकी साहित्य-यात्रा के तीन आयाम हैं, जो अपने में आदि, मध्य और वर्तमान कालखंडों का इतिहास समाहित किए हुए, समूचे युग का एक विराट चित्र प्रस्तुत करते हैं।

'माफ करना, सुशील, जरा देर हो गई !' उनकी विनम्र आवाज सुनकर मैं चौंकी हूं और हठात चुप हो आई हूं। जिनके प्रति अपराध-बोध मन को मथ रहा था, वह स्वयं विनम्रता की मूर्ति बनी, गद्गद

भाव से करीब आ बैठी थीं। सफाई वहां दी जाती है, जहां कोई दूरी हो। मेरे सामने जो महीयसी महिला थीं, वह तो शायद इस ख्याल में ही उमग आई थीं कि कोई कितनी दूर से उनके पास आए, यही बहुत काफी है। १९७७ के 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित, 'प्रथम-प्रतिश्रुति' की लेखिका आशापूर्णा देवी, उस वक्त अपनी ममतामयी आंखों और सदाबहार हंसी के पीछे जा छुपी थीं। उनमें लेखिका तो तब सजग हुई, जब मैंने उनका अभिनंदन किया।

मेरे अभिनंदन पर उन्होंने सरल मुस्कान बिखेरते हुए कहा, '१३ साल की उम्र में लिखना शुरू किया। पहले कई सालों तक कविता लिखी, फिर अट्ठाईस साल की उम्र तक केवल बच्चों के लिए कहानियां लिखती रही। इसके बाद दो-एक हास्य कहानियां भी लिखीं। इसी दौर में खेल-मेल में लिखी कविता-कहानियों ने ही जाने कब बड़ा कर दिया। खेल-खिलवाड़ में लिखते-लिखते अचानक मैं सीरियस हो गई और सीरियस मसलों पर सीरियस कहानियां लिखने लगी। 'राजू की मां' मेरी पहली कहानी थी, उसके बाद तो ढेरों कहानियां''फिर उपन्यास। बाहर की दुनिया से तो जान-पहचान थी नहीं, बस लिख-लिखकर डाक से भेज देती थी।'

शिक्षा-दीक्षा के सवाल पर उन्होंने उसी सहजता से स्वीकारा है — 'मैं जिस मध्य-वित्त समाज की लड़की थी वह पुरुष-शासित समाज था। औरतें पर्दे में रहती थीं। खबरदार! जो लड़की जात होकर स्कूल-कालेज जाए। नाक कटाए। हरगिज़ नहीं!—दादी का कड़ा हुक्म था और मेरे फरमाबरदार मां-बाप ने उसका अक्षरशः पालन करते हुए स्कूल का मुंह ही नहीं देखने दिया। तुम्हें बताऊं, मैंने अपने जीवन में पहली बार स्कूल का मुंह तब देखा था जब मैं अधेड़ होने के बाद किसी स्कूल में सभानेत्री की हैसियत से पुरस्कार-वितरण के लिए गई थी। सो, हमेशा घर की चहारदीवारी के अंदर कैद, बाहरी दुनिया की आहट-भर सुनती-सुनती मैं जवान हुई। मेरे सामने आम औरत की जो तस्वीर थी, वह बेहद निरुपाय, असहाय, पुरुष की चढ़ी हुई त्योरियों से कांपती-थर्राती अबला-भर थी। अतः स्कूल न जा पाना, पढ़ने-लिखने से वंचित रह

लेकिन उनकी नारी आदर्श की होती थीं। मुझे लगा, आदर्श से भी बड़ी वह वास्तविकता है जिसकी मार इंसान को कुछ का कुछ बन जाने को विवश कर देती है। अतः मैंने अपने लेखन में उस क्रूर यथार्थ को अभिव्यक्ति दी।'

'अच्छा, आप आदमी की बेसिक ईमानदारी पर विश्वास करती हैं? आपको क्या यह नहीं लगता कि बेसिक ईमानदारी अब अजायबघर में दर्ज करने वाली बात हो गई है? आदमी ही आदमी का विश्वास छलता है और नुकसान पहुंचाता है?'—मेरे सवाल पर उनकी आंखों में अछोर ममता झलक आई है—'नहीं, मैं आज भी इंसान की शुभ-बुद्धि में विश्वास करती हूं। हर बुरे से बुरे इंसान में मैंने कोई न कोई खूबी पाई है। ईमानदारी छली जाए, यह किसी एक की बदकिस्मती हो सकती है, हर किसी की नहीं। आदमी ध्वंस से अधिक सृजन करता है। तभी तो यह सृष्टि कायम है। औरत की तेजी से बदलती हुई स्थिति की हर बारीकी को मैंने अपने लेखन में पकड़ने की कोशिश की है। कल तक घर की चहारदीवारी में कैद औरत, आज बाहर निकलकर हर मुश्किल से मुश्किल कार्यक्षेत्र में भी न सिर्फ पहुंचती है, बल्कि छा गई है, पुरुष के समान ही सफल साबित हुई है। यह क्या कम गौरव की बात है? मैंने पिछला ज़माना भी देखा है, मैंने आज का ज़माना भी देखा है। औरत ने हर कदम पर पुरानी ज़मीन तोड़ी है और पुरुष-शासन से अपने को क्रमशः मुक्त किया है। लेकिन जानती हो, ट्रेजेडी क्या है? औरत आज भी बंदी है, अपने रचे कटघरे में खुद ही बंदी। वह बाहरी तौर पर स्वतंत्र हो गई है, लेकिन अंदर से वही औरत की औरत। इसकी दो वजहें हैं—नारी के प्रति पुरुष की दृष्टिभंगी में कोई खास बदलाव नहीं आया है। उसने समाज, परिवेश, वक्त के तकाज़े के 'चाप' से विवश होकर औरत को आज़ाद तो कर दिया, लेकिन मन ही मन वह अब भी क्रुद्ध और क्षुब्ध है। वह औरत की मुक्ति को मन से स्वीकार नहीं पाया है। दूसरे, औरत स्वयं भी अपनी आत्मिक परतंत्रता के लिए ज़िम्मेदार है। वह आज भी हर तरह से पुरुष की प्रशंसा की प्रत्याशी है। आज भी उसका मकसद अपने बनाव-शृंगार से पुरुष को रिझाना-भर है। इसके

अलावा उसकी अतिशय ममता उसे मार गई है। नहीं, मैं यह नहीं कहती कि ममता बुरी चीज है, लेकिन ममता में वह इतना इन्वाल्व हो जाती है कि वह हर कहीं, हर किसी के संदर्भ में इस बुरी तरह जुड़ी हुई है कि उसके मन में हर पल, बहुत-सी संभव-असंभव अपेक्षाएं जन्म लेती हैं—बस, यहीं वह मानसिक तौर पर आश्रित हो जाती है। देखो न, पुरुष प्रत्याशी नहीं, इसीलिए उन्मुक्त रहता है, औरत फौरन प्रत्याशी हो उठती है, इसलिए मानसिक रूप से आज भी परतंत्र है। आत्मिक मुक्ति के लिए उसे अपने मानसिक स्तर से ऊपर उठना ही होगा।'

मैंने उनके सामने कुछ और सवाल रख रख दिए हैं। उन्होंने उसी मासूमियत से स्वीकारा है—'हां, तुम्हारे सवाल जायज हैं। मैं अपनी समकालीन परिस्थितियों—दुर्भिक्ष, शरणार्थी, राजनीति वगैरह मसलों पर चुप लगा गई हूं। दरअसल दुनिया इतनी बड़ी है, सुनील, कि हर मसले पर लिखना, हर दुख से कराहना असंभव-सा है। मेरे लेखन में ये विषय लगभग नहीं आए। सौ बात की एक बात यह है कि जो मन में आता है, वही लिखने को विवश होती हूं। मैं लिख डालती हूं। अपने हिसाब से मैंने भी साहित्य में प्रयोग किए हैं, और मेरे पाठकों की अभ्यर्थना भी मिली है। 'प्रथम-प्रतिश्रुति' की सत्यवती प्रतिवाद की प्रतिमूर्ति है। यही एक ऐसी कथा है जो बचपन से ही मेरे दिमाग में पनप रही थी। इनके पात्र बचपन में ही मुझे उद्विग्न और आलोड़ित करते रहे। मुझमें सैकड़ों सवाल जगाते रहे। मुझमें एक पागल जिद भरते रहे कि पुरुष की नाइंसाफी बर्दाश्त करती हुई औरत क्या हमेशा हारती ही रहेगी? वह कभी जीतेगी नहीं? और कुछ संतोष है कि मैंने उसके माध्यम से जो कुछ कहना चाहा था, कह दिया। बदलते हुए समाज, बदलती हुई मान्यताओं के साथ मैं भी बदली हूं। मेरा लेखन भी बदला है। कहीं विवाह तोड़ने की सहजता पर प्रश्नचिह्न लगाया है, कहीं विवाह तोड़ने की छटपटाहट है। लेकिन बेसिक बात यह है कि मैं शायद बहुत झगड़ालू हो उठती हूं, अपने लेखन में। मेरी दृष्टि में जो उचित नहीं है, मैं उसका जबरदस्त प्रतिकार करती हूं। असल में समाज अपने अनुसार चलता रहेगा, हमारा लेखन बस इतना-भर ही कर सकता है कि

उस समाज की मानसिकता, रूढ़िगत परंपराओं को बदलने की कोशिश करे। मेरे लेखन ने अपने समय की मध्यवित्त परिस्थितियों, संस्कारों के आगे कहीं हार नहीं मानी, कभी आत्मसमर्पण भी नहीं किया। लेकिन मुझे जो कहना था, कह लिया; जो देना था, दे लिया। अब तक काफी कुछ लिख लिया। अब क्लांति आने लगी है। लेकिन अगर वक्त मिले तो खूब-खूब लिखने का मन करता है। अब उम्र के साथ-साथ व्यस्तताएं ज़िम्मेदारियां भी बढ़ गई हैं। अब तो जो लिखती हूं, वह प्रेरणा से नहीं, ताड़ना से लिखती हूं। संपादकों, प्रकाशकों, पाठकों की ताड़ना और प्रीतिवश लिखती हूं। अतः रोज लिखना नहीं हो पाता। लेकिन तमाम व्यतस्ताओं और भरे-पूरे पलों के बावजूद न लिखने पर खालीपन घेरता है। मैंने घर-गृहस्थी की चहारदीवारी के भीतर से ही जो कुछ देखा-सुना-महसूस किया, वह इतना विशद है कि बहुत कुछ लिखने को उकसाता है, लेकिन जैसे अपने लेखन से प्रतिबद्ध हूं, वैसे ही अपनी घर-गृहस्थी और परिवार से भी। मुझे लेखन के लिए घर-गृहस्थी से वक्त नहीं चुराना पड़ा, घर-गृहस्थी भी कभी मेरे लेखन में बाधक नहीं बनी। सो अभी तो लगता है, मैं जो कहना चाहती थी, कह लिया। भविष्य की नहीं जानती, वह तो प्रभु की इच्छा पर निर्भर है। फिर किसी नयी बात ने मन को कुरेदा, तो फिर लिखूंगी। मैंने कहा न, मैं कहानी स्वयं नहीं लिखती, कहानी ही मुझे बहकाकर अपने अनुभव को वाणी देने को विवश करती है। हां, पाठकों की अटूट प्रीति मुझे मिली है। उपन्यासों का कई-कई भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। हिंदी-बंगला में फिल्में भी बनी हैं। 'प्रथम-प्रतिश्रुति' को ही बंगला का 'रवीन्द्र-पुरस्कार' भी मिल चुका है—लेकिन, अब सोचती हूं, इस पुरस्कार की जगह अगर तिरस्कार भी मिला होता तो भी मैं स्वीकार करती, क्योंकि मुझे जो कहना था, कह लिया! मैं तर्क के झमेले में कभी नहीं पड़ती। मेरे पुत्र-पुत्री, नाती-पोते-भांजे वगैरह अगर कभी मेरे लेखन के संबंध में कोई मत प्रकाशित करते हैं, तो मैं अपनी राय को ही सही ठहराने की ज़िद कतई नहीं करती। मैं लेखन में जितनी उग्र हूं, व्यवहार में उतनी ही चुप, अतः मेरा कभी किसी से मतभेद नहीं होता।'

वक्त काफी गुजर चुका है। धुंधलाई शाम ने रात की काली चादर ओढ़ ली है। कमरे के बाहर बहुत-से अभ्यागत-मेहमान प्रतीक्षा में हैं—कुछ गृहिणी से मिलने के लिए, कुछ लेखिका से। मैं सीढ़ियों से उतर रही हूं। याद आ रहा है, इसी तरह उनका एक उपन्यास पढ़कर कुछ लड़के उन्हें सिर्फ यह बताने के लिए दौड़े आए थे कि उन्होंने फलां उपन्यास में कमरे का जो चित्र खींचा है वह बिल्कुल उनके कमरे का है, और उसमें जिस पिता की तस्वीर है वह उनके पिता की है। घर की चहार-दीवारी में रहती हुई यह महीयसी लेखिका जाने किस दिव्य दृष्टि से, उन अनदेखे घर-कमरों का रेखाचित्र अपने लेखन में आंका करती है! यह सब तो आम लोगों के सुख-दुख से एकाकार हुए बिना जाना नहीं जा सकता। 'एइ, फिर आना जरूर!' आशा दी ऊपर की सीढ़ियों पर खड़ी विदा दे रही थीं। 'आऊंगी!' मैंने कृतज्ञ मन से सिर हिलाया है और बाहर निकलकर महसूस किया है—धरती कुछ और ममतामयी हो आई है। आकाश कुछ और घना हो आया है। पेड़ कुछ और हरे-भरे हो आए हैं। अजनबी भीड़ बहुत जानी-पहचानी लग रही है!

—सुशील गुप्ता
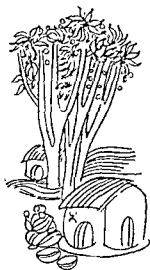
रेत का वृन्दावन

एनामल के गमले में पड़ी हुई अमरूद की जेली काठ की चम्मच से निकाल-निकालकर, शीशे के मर्तबान में भरते हुए निवेदिता के चेहरे पर खुशी और परितृप्ति की जो आभा झलक उठी थी, वह देखने लायक थी।

हालांकि इससे यह राय बना लेने की कतई कोई वजह नहीं है कि वह अमरूद की जेली की परम भक्त है। उसकी तरफ गौर से देखने से ही पता चल जाता है कि थाल-भर बड़ियों को धूप दिखाते समय, भंडार की शीशी-बोतलों को झाड़-पोंछकर चमकाते समय या तकिये पर सफेद-बुर्राक गिलाफ चढ़ाते समय, निवेदिता के चेहरे पर वही परितृप्ति और प्रसन्नता खेलती रहती है।

वैसे जब उसे खीज होती है, तब त्योरियां चढ़ाने में भी पल-छिन देर नहीं करती। पति या पुत्र ने जूते खोलकर जहां के तहां रखने के बजाय, एकाध इंच इधर-उधर रखे हैं या नौकर ने सब्जी के छिलके घर के बाहर फेंकने की बजाय आंगन में ही डाल दिए हैं—इन पर निगाह पड़ते ही वह एक-

दम से भड़क जाती है।

सुव्यवस्था और सफाई, निवेदिता के जीवन की एकमात्र साधना है। छोटी-सी गृहस्थी और इस गृहस्थी को गढ़ने-सजाने का सारा श्रेय निवेदिता को हो जाता है।

यहां की हर छोटी से छोटी चीज में उसी की छुअन है।

पंद्रह साल की उम्र में जब वह व्याहकर आई थी तब उसके पति सत्यशरण लगभग नाबालिग थे। वह अपनी विधवा मां के अंचलधन थे और अपने मामा के घर पढ़-लिखकर इंसान बने थे।

मां की तकलीफें कम करने के साधु-संकल्प के अलावा उनके मन में तब तक और कोई चाह नहीं जगी थी। बीस साल की उम्र में बी० ए० पास करके किसी व्यापारी दफ्तर में नौकरी कर ली और मां की इच्छा पूरी करने के लिए उस मामूली-सी कमाई के भरोसे व्याह करने में रंचमात्र भी दुविधा नहीं की।

हालांकि निवेदिता ही ऐसी कौन असाधारण घर की बेटी थी? क्लर्क पिता के घर में बचपन निहायत उपेक्षित-सा बीता था। मां को फुरसत नहीं मिलती—इस बहाने आठ साल की उम्र से ही नन्हे-नन्हे भाई-बहनों की लगभग सारी ज़िम्मेदारी उसके सिर मढ़ दी गई थी।

वैसे 'बहाना' कहना शायद सरासर अन्याय जान पड़े, लेकिन जो जरा खोज-भरी, सूक्ष्म दृष्टि से देखता उसकी राय बिल्कुल भिन्न होती। खैर, अब वह ज़िंदगी भी याद नहीं जब उसे अपने ममिया श्वसुर के यहां तीन-चार साल तक

दूसरों पर बोझ बनकर जीना पड़ा था। अब निवेदिता की अपनी गृहस्थी है, जिसे उसने खुद गढ़ा है।

सास की मृत्यु के बाद से ही वह सत्यशरण के बिल्कुल पीछे ही पड़ गई और उस विशाल परिवार के कैदखाने से बाहर निकलकर ही दम लिया था।

शुरू-शुरू मे डरपोक सत्यशरण निवेदिता का यह दुःसाहस देखकर दिशाहारा हो उठे थे। उन्हें यह पक्का यकीन था कि एक न एक दिन उन्हे लाज-शर्म छोड़कर, दुबारा उसी मामा के घर, उनकी जटिल गृहस्थी के भंवर में लौट आना पड़ेगा। यह बात तो वह सोच भी नही सकते थे कि वह भी कहीं अपनी अलग दुनिया बसा सकते है। उन्होंने तो सोचा था, 'अच्छा, कोई बात नही। जरा अक्ल ठिकाने आ जाएगी!'

लेकिन निवेदिता ने सबको हैरत मे डाल दिया। उसने ऐसी-वैसी गृहस्थी ही नही रची, उस गृहस्थी को तस्वीर की तरह सजा भी लिया। बिल्कुल फिटफाट, सुरुचिपूर्ण, सुव्यवस्थित, सुदर।

हालांकि अपनी ज़िद से अलग होने के अपराध-बोध की वजह मे उसने पति पर कभी रत्तीमात्र भी किसी तरह का दबाव नही डाला। इतना सब कहां से हो रहा है, इस बारे में सत्यशरण को कभी कुछ पता नही लगने दिया, उन्होंने भी कभी खोज नही की। पति ने भी अपने को पूरी तरह निवेदिता के हाथों में सौप दिया था।

यह बात भी बिल्कुल अलग है कि उन लोगों ने अपनी ज़िंदगी को अधिक जटिल बनाया भी नही।

सीमित गृहस्थी। सीमित जरूरतें।

चार-पांच साल पहले बेटी का ब्याह कर दिया। दामाद लायक था। दूर बसे होने की वजह से कभी-कभार ही आता था। लेकिन निवेदिता को कोई मतलब नहीं था। बेटी सुखी है, यही तो चाहिए था। वैसे यह ब्याह भी निवेदिता के ही अथक परिश्रम का पुरस्कार था। वरना ऐसा दामाद जुटाना क्या सत्यशरण के वश की बात थी? और एक बेटा है—गौतम।

यथासमय उसके मनलायक खाने-पहनने की फरमाइशें पूरी करने के अलावा और कुछ करने को नहीं था। उसकी अपनी ही तेज़ धार उसे तराशती जा रही थी। वह खुद ही टपाटप आगे बढ़ता गया था और अन्य लड़कों की तुलना में काफी कम उम्र में ही एम० ए० में पढ़ रहा था। उसे गढ़ने के लिए निवेदिता को और कुछ भी नहीं करना था।

इतने दिनों बाद युद्ध-स्तर पर काम करने की जरूरत मानो खत्म हुई!

अब उनकी ज़िंदगी में परम निश्छल शांति आ विराजी थी।

अब तो नरम-कोमल राह पर ज़िंदगी के पहिये को लुढ़का-भर देना है। हालांकि निवेदिता आज भी निःशेष नहीं हुई। इसीलिए अटूट स्वास्थ्य और अक्लांत मन लिये वह रोज़मर्रा के काम-काज में इस कदर डूब गई है कि वे कभी खत्म होने को ही नहीं आते।

वह साफ-सुथरे बिस्तर को फिर से झाड़ती, बुहारे हुए घर को फिर बुहारने बैठ जाती। पति, पुत्र और नौकर—इन तीनों प्राणियों में छोटे-मोटे नुक्स निकालकर, हर वक्त

चखचख मचाए रहती ।

वह कभी वड़ियां डालती, कभी अचार बनाती और कभी अखवार या रेडियो से नये-नये व्यंजन सीखने में व्यस्त रहती। सत्यशरण ने जिसको नाम दिया है—सनकी।
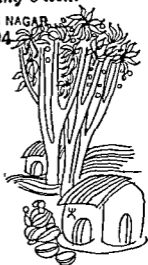
सत्यशरण किसी काम से कमरे के अदर आकर एकदम ठिठक गए, 'अव आज फिर क्या करने वैठ गईं ? कौन-सी नयी सनक सवार हुई ?'

'नयी नही जी, पुरानी !' निवेदिता हस पड़ी, 'देखो न, कैसा खूवसूरत सोने जैसा रंग निकल आया है? अमरूद अच्छे थे।'

निवेदिता अक्सर ही ऐसी सुनहरे रंग की जेली वनाया करती है, लेकिन हर बार जैसे अपनी खूवी पर खुद ही मुग्ध और पुलकित हो उठती है। हर मामले में उसका यही स्वभाव

है । सत्यशरण को प्रायः हर हफ्ते ही यह सुनना पड़ता था, 'एइ, देखो बिस्तर कैसा उजला लग रहा है ? तुम्हारे धोबी से बेहतर !'

सत्यशरण अगर अनजाने भी कभी नौकर की तारीफ कर बैठते, तो निवेदिता हंसते-हंसते लोटपोट हो जाती, 'हां ! हां ! उसी मुगालते में रहो । अरे, फटिक क्या, फ़टिक के बाप के भी बूते की बात है कि एक भी तकिये का गिलाफ इतना धव्धव् सफेद धो सके ? यह श्रीमती निवेदिता देवी ने धोया है, समझे ?'

'बेशक, बेशक ! तुम जरा ऊंचे किस्म की रसोईदारिन या धोबिन रही होगी !'

दोनों में प्रायः इसी तरह की बातचीत । इसी तरह की हंसी-दिल्लगी । बस्स ।

बातचीत या बहस-मुबाहसे में किसी तरह की विचित्रता लाना, सत्यशरण-जैसे सीधे-सादे इंसान के वश की बात नहीं थी ।

निवेदिता में यह खूबी थी या नहीं, इसकी खोज-खबर किसी ने नहीं ली । आत्मीय स्वजन तो उन्हें एक ही थैली के चट्टे-बट्टे समझते थे । वैसे निवेदिता का बहुत मन करता था कि गौतम से वह स्कूल-कालेज के बारे में बात करे । वह उसे कुरेदकर यह जानना चाहती थी कि सारे दिन वह क्या करता है, किससे मिलता-जुलता है, वगैरह-वगैरह ।

जज की तरह नहीं, दोस्त की तरह ।

लेकिन गौतम काफी गंभीर स्वभाव का लड़का है, उससे बहुत दूर तक बातचीत आगे नहीं बढ़ पाती ।

इसीलिए मन के काम जैसे-जैसे खत्म होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे हाथ के काम बढ़ते जा रहे है।" कौन जाने, मन अभी भी नि.शेष नहीं हुआ, यह शायद उसी की अभिव्यक्ति है।

सत्यशरण निवेदिता की बात पर दुबारा हंस पड़े, 'मैं कह रहा था, अपना सोने जैसा रंग काला करके, सुनहली-सुनहली जेली बनाकर क्या होगा? इतना सारा खाएगा कौन?'

'तुम्हारी भी जैसी बात होती है न! इत्ती-सी तो है! खत्म होते कितने दिन लगेंगे? बोतल में लगता है बहुत ज्यादा है। पिछली बार तो इससे भी ज्यादा बनाई थी!'

दम्पती की आपसी बातचीत की सीमा लगभग यही तक थी।

मुमकिन है, निवेदिता की बाकी जिंदगी भी इसी तरह बीत जाती। मुमकिन है, नये के नाम पर, चालीस की उम्र पार करते ही गुरुमंत्र ले लेती, थोड़ा बहुत पूजा-पाठ करते हुए उम्र और आचरण में तालमेल बनाए रखती। हां, अपने ईहलोक और परलोक में सामंजस्य बनाए रखती।

"मुमकिन है, कुछ दिनों बाद बेटे का व्याह करके, बहू को सुशिक्षा देने की कोशिश में जरा और चिड़चिड़ी हो जाती, और धीरे-धीरे निःशेष हो जाती, अगर"

हां, दुर्गा-पूजा के समय अगर वह पुरी घूमने न आती। हालांकि घूमने आना भी निवेदिता की ही कोशिशों का नतीजा था।

सत्यशरण ने जब उसका प्रस्ताव सुना तब हजारों असुविधाओं की फेहरिश्त गिनाकर उसे टालना चाहा था, लेकिन सब बेकार।

निवेदिता ने जवाब दिया, 'ज़िंदगी-भर तो सुविधा-सुव्यवस्था ही करती आई। अब जरा असुविधा-अव्यवस्था का भी स्वाद लेकर देख लूं···एक बहुत बड़ी सुविधा तो मिल ही रही है—घर की। घर भी क्या हर वक्त मिल सकता है ?'

गौतम काफी गंभीर लड़का था। प्रस्ताव जब तक उसके पास नहीं पहुचा था, वह खामोश रहा।

प्रस्ताव सुनते ही उसने कहा, 'मेरी पढ़ाई का नुकसान होगा। सोचा है इन छुट्टियों में···'

निवेदिता ने कहा, 'वहां तुझे पढ़ने को कौन मना करता है ? अपनी किताब-कापी साथ ले चल।'

'यह कैसे हो सकता है ? मैं और एक और लड़के ने मिलकर तय किया है कि एक प्रोफेसर के यहां पढ़ने जाया करेंगे।'

निवेदिता ने किंचित आहत होकर कहा, 'इतना सब

ठीक-ठाक कर लिया, लेकिन मुझे बताया तक नहीं ?'

गौतम ने मुस्कराते हुए कहा, 'इसमें बताने की क्या बात है ? फीस तो लगेगी नहीं...'

निवेदिता ने पति से कहा, 'तब उसे रहने दो। आखिर वह मर्द है। लडका है, जिंदगी में जाने कितने मौके आएंगे। लेकिन मैं जाऊंगी ही...'

मैं यानी हम दोनों।

बेटे की आपत्ति सुनकर सत्यशरण के मन में उम्मीद बंधी थी कि जाना स्थगित करने का यह एक जबर्दस्त कारण मिल गया।

लेकिन निवेदिता का संकल्प सुनकर अवाक् रह गए। उन्होंने पूछा, 'वह रह जाए ! खाएगा क्या ?

'फटिक रहेगा। जो कर सकेगा, करेगा। दोनों जन खा लिया करेंगे। मैंने तो सोचा था कि चारों जन चलेंगे। लेकिन जब यह संभव नहीं है, तो और किया भी क्या जाए ? उस छोकरे फटिक की किस्मत में ही नहीं है...'

आखिर सत्यशरण ने निरुपाय होकर अपने को नियति के हाथों सौंप दिया।

कई दिनों बाद काफी लंबे-चौड़े माल-असबाब और एक अदद पति को लेकर निवेदिता पुरी आ पहुंची।

हालांकि पति बिचारे को काफी डरा-धमकाकर लाई थी कि वह असुविधा और अव्यवस्था का स्वाद पाने के लिए ही जा रही है, लेकिन असल में व्यवस्था और सुविधा के आगे 'अ' बिठाने का मौका ही नहीं दिया उन्होंने। यह भी उनकी एक किस्म की सनक थी।

उनकी तैयारी में कोई त्रुटि रह जाए, इतनी सहन-शक्ति निवेदिता के स्वभाव में ही नहीं थी—खास कर सत्यशरण के मामले में।
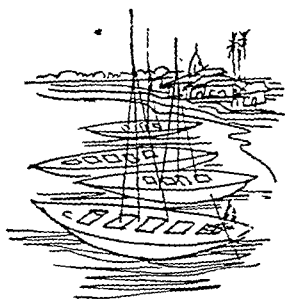
लेकिन यहां आकर निवेदिता मानो अचानक ही बदल गई।

मानो उम्र का बहुत बड़ा हिस्सा उसके हाथों से फिसल गया।

निवेदिता यहां आकर समय का ज्ञान जैसे भूल ही गई। वह तन्मय होकर सीपियां बटोरती, रेत में पांव धंसाकर अपने पंगु रूप पर स्वयं ही हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाती, जरा-सा एकांत पाते ही दौड़-धूप के खेल में मगन हो जाती।

सत्यशरण ने कहा, 'यहां आकर तो तुम निरी बच्ची बन गई हो!'

यह बात सच भी थी। केवल उम्र के लिहाज़ से नहीं, अपने गुरु-गंभीर बेटे गौतम के बड़े होने के साथ-साथ, बेहद स्वाभाविक ढंग से निवेदिता के भी स्वभाव पर गंभीरता की एक 'कोटिंग' चढ़ती गई थी। वह गांभीर्य मानो यहां सागर की उद्दाम हवाओं में चिंदियां बनकर उड़ गया था।

सत्यशरण मानो उसे पकड़ नहीं पाते।

मानो वह कुछ बौखला गए थे।

वहां का कांसा बहुत बढ़िया होता है, इसीलिए निवेदिता बर्तन खरीदने के लिए काफी सारे रुपये अलग से लाई थी। लेकिन उनका सदुपयोग करने का चाव आखिर कहां चला गया? वह तो दुकान-घाट की ओर जाना ही नहीं चाहती। घूमने जाने के नाम पर ले-देकर यह समुद्र-तट। यह रेत का वृंदावन क्या उसे इतना पसंद आ गया?

उस दिन शाम हो आई, लेकिन निवेदिता सीपियां बटोरने में ही व्यस्त थी।

सत्यशरण के हाथ में एक झोला था। निवेदिता बिना कुछ सोचे-समझे छोटी-बड़ी मंझोली—सभी साइज़ की सीपियां चुन-चुनकर झोले में भरती जा रही थीं।

सत्यशरण ने बेसुध होकर पूछा, 'अच्छा, पागलों की तरह

सिर्फ सीपियां ही बटोरे जा रही हो! इतनी सीपियों का आखिर होगा क्या?'

निवेदिता बोली, 'जब जाने लगूंगी, समुद्र की चीज समुद्र के ही हवाले कर जाऊंगी!'

सत्यशरण तो बिल्कुल दिशाहारा हो उठे। पूछा, 'इतने दिनों इतनी मेहनत से चुनती रहोगी, सब फेंक दोगी?'

'और नहीं तो क्या? चुनी हैं, इसलिए बस्ता-भर सीपियां लादकर कलकत्ता ले जाऊं?'

'तब इतनी सारी सीपियां इकट्ठी क्यों कीं?'

'क्यों कीं?' निवेदिता ने हाथों में लगी रेत झाड़ते हुए कहा, 'तब तो कलकत्ता छोड़कर पुरी आने की क्या जरूरत थी?'

'...अच्छा, अब बहुत हुआ! देखो, अंधेरा हो आया, दिख भी नहीं रहा है। चलो...

अचानक पीछे से किसी ने गंभीर लेकिन कौतुकी लहजे में आवाज़ दी, 'बगैर अनुमति के बात कर रहा हूं, कृपया गलत न समझें! लेकिन बिचारे इस समुद्र-तट को बिल्कुल दिवालिया कर जाने को कसम खाकर आई हैं?'

दोनों ने चौंककर पीछे की तरफ देखा।

सौम्य कांति, मंझोली उम्र के एक सज्जन।

सिर पर हल्का-सा गंजापन। आंखों में काले फ्रेम का चश्मा। बदन पर ढीला-ढाला सफेद महीन कुर्ता। सद्यः संध्या के झुटपुटे ने मानो हर किसी पर स्निग्धता बिखेर दी थी।

तीनों में नमस्कार का आदान-प्रदान हुआ।

अब नवागंतुक ने ही दुबारा कहा, 'चार दिन हुए, यहां

आया हूं। आपने सरकारी दफ्तर से यह पता कर लिया है कि सीपियों पर कहीं कोई टैक्स तो नहीं लगता ?'

इस बार सत्यशरण ने ही निवेदिता की तरफ से जवाब दिया, 'इसकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी, साहब ! उन्होंने पहले से फैसला कर रखा है, जाते समय समुद्र की संपत्ति समुद्र को ही लौटा जाएंगी !'

उनके उत्तर ने नवागंतुक को किंचित विस्मय में डाल दिया, जो उनकी आवाज से साफ ज़ाहिर हो उठा, 'अच्छा, यह बात है ? लेकिन ऐसा क्यों ?'

इस बार सीधे-सीधे निवेदिता ने ही जवाब दिया, 'इसमें बुरा क्या है ? खुशी भी मिल गई और टैक्स का भी डर नहीं रहा !'

'वाकई, आपकी परिकल्पना तो नई किस्म की है ! इस की तो आध्यात्मिक व्याख्या भी की जा सकती है।'

सत्यशरण ने कहा, 'तब फिर चलिए न हमारे यहां ? एकाध पल बैठकर जितनी कुछ व्याख्या-वाख्या है सब हो जाएगी।'

आगंतुक ने हंसकर पूछा, 'कहां है आपका घर ?'

'यहीं···बस, जरा-सी दूर',

'इस रेत की तरह—जरा-सी दूर ?'

सत्यशरण हंस पड़े, 'आपने ठीक ही कहा ! रेत का रास्ता बड़ा दगाबाज़ होता है ! आधा मील दूर से ही लगता है—यह रहा ! बिल्कुल सामने ही तो ! ···आप कहां ठहरे हैं ?'

सज्जन ने एक मशहूर होटल का नाम लिया।

'अरे, वाह ! वह तो हमारे घर के बिल्कुल करीब है !

आपने 'तीर्थ कुटीर' नहीं देखा ? तब फिर क्या है ? चलिए, चला जाए ! इस गरीब के गरीबखाने में चरण-धूलि देकर, अपने दौलतखाने में लौट जाइएगा !···बात यह है, जनाब, कि हम लोग ठहरे कलकत्ते के लोग ! जहां भी जाएं, दो ही दिनों में हांफ उठते हैं।'

'समुद्र-तट पर आकर आप हांफ उठे, क्या कह रहे हैं ? लगता है, विज्ञान तक को आप उड़ा देना चाहते हैं ?'

उन्होंने मोहक-सा ठहाका लगाया। सचमुच उनकी हंसी बेहद मोहक और उन्मुक्त थी।

निवेदिता पति के इस कांडज्ञान के अभाव पर मन ही मन संकोच-बोध किए बिना नहीं रह पाई।···अरे, भई, रास्ते में मुलाकात हुई, दो बंगाली आपस में बात कर लें, बस··· किस्सा खत्म ! उसे घेर-घारकर घर ले जाने का क्या तुक है !

उसने पति से कहना भी चाहा, तुम तो अजीब आदमी हो ! वह शायद अभी-अभी घर से निकले हैं, अभी घूमना बाकी हो···और तुम उन्हें पकड़कर घर ले जाना चाहते हो ? लेकिन बोलना चाहकर भी वह रुक गई। कौन जाने, अगर उसकी अनिच्छा पकड़ में आ जाए ? अतः उसने अपने ही ख्याल को कैंसिल करते हुए कहा, 'अरे, उनकी बात छोड़िए ! वह तो प्रति बार विज्ञान को अज्ञान करके ही दम लेते हैं। लेकिन अगर हांफते न भी हों, तो बंधु-लाभ का मौका भी क्यों खोएं ?'

यह कहते हुए निवेदिता के चेहरे पर संतोष झलक आया। मानो वह बहुत बढ़िया बात कह गई थी।

उन सज्जन ने भी पलटकर जवाब दिया, 'खैर, यह तो दोनों पक्षों के लिए लागू होता है, लेकिन भई, यह तो आपकी नीति से मेल नहीं खाता ?'

निवेदिता ने नीति की बात पर उसकी तरफ अवाक् होकर देखा।

अंधेरा हो चुका था। चेहरे के भाव अब ठीक-ठीक दिखाई नहीं दे रहे थे, लेकिन फिर भी उन सज्जन ने कुछ अंदाज़ लगाते हुए कहा, 'खुशी के मुआवज़े में अहसान चुकाना तो आपकी आदत के खिलाफ है ?'

'ओह, यह बात है ! लेकिन अहसान कैसा ? दोस्ती पर टैक्स देने की जरूरत नहीं पड़ती !'

'लेकिन चाय की जरूरत पड़ती है ! देख लीजिए, कहीं ऐसा न हो कि बैठे-बिठाए मुसीबत मोल लेनी पड़े।'

सत्यशरण को भी ये सरस बातें काफी पसंद आने लगीं।

वह स्वयं बिल्कुल वाक्पटु नहीं है, लेकिन हंसी-दिल्लगी, मैत्री-परिचय उन्हें काफी प्रिय थे। वह निवेदिता की कुंठा-हीन पटुता पर भी मुग्ध हो उठे।

यह उनकी आज की नहीं, हमेशा की आदत थी।

घर पर भी मेहमान-कुटुंब, समधी-दामाद, औरत-मर्द चाहे जो आए, उनके स्वागत-सत्कार का भार निवेदिता पर ही रहता था। उसे ही अपने काम में हर्ज करके, उनकी सम्मान-रक्षा के लिए उनके पास बैठना होता।

सत्यशरण अनाड़ी थे। गौतम तटस्थ।

सचमुच वह हर किसी से उनके मन-मुताबिक निर्वाह कर लेती थी।

इस दिन वह सज्जन आए तो सही लेकिन बैठे नहीं। अगले दिन चाय का निमंत्रण हथियाकर उन्होंने विदा ली। उन्होंने जाते-जाते कहा, 'खैर, अब तो घर पहचान गया, अब भला कौन ठग सकता है ?'

बल्ब की रोशनी में उस इंसान को एक बार फिर आपाद-मस्तक परखने का मौका मिल गया। अधेड़ उम्र। निवेदिता से शायद दो-एक साल बड़ा। मुमकिन है, उसकी उतनी उम्र न हो, लेकिन चेहरे पर फैली हुई सौम्यता के कारण वह कुछ बड़ा लग रहा था।

लेकिन स्वभाव से काफी सरल।

गंभीर स्वर, लेकिन भाषा में सरस कौतुक की हीरक-धार।

राह चलते-चलते ही उन लोगों ने एक-दूसरे का परिचय जान लिया।

वह एक गैर-सरकारी कालेज में प्रोफेसर थे। विवाह नहीं किया। साल की दोनों लंबी छुट्टियों में कहीं आस-पास घूमने निकल जाना उनका शौक था। नशे के नाम पर पढ़ना और पढ़ाना। जो किताब अच्छी लगती, दस बार पढ़ डालते, जो जगह अच्छी लगती पांच बार घूमने जाते।

पुरी भी इस बार को मिलाकर चार बार आ चुके हैं।

उनकी बातें सुनकर निवेदिता की आंखें हैरत से फैल गईं, 'भला बताइए तो, ऐसा क्यों ? हिंदुस्तान के बाकी सब प्रदेशों ने क्या गुनाह किया है ?'

प्रोफेसर हंस पड़े, 'साल में दो नये प्रदेश देख डालूं तो भी क्या समूचा हिंदुस्तान देख पाऊंगा ?'

'फिर भी, कमोवेश अच्छी-अच्छी जगहें तो देख लेंगे ?'

'नहीं, फिर यह ख्याल सालता रहेगा कि अभी क्या देखा ! दुनिया की कितनी-कितनी खूबसूरत जगहे अदेखी रह गईं !'

सत्यशरण ने शायद इस बातचीत में हिस्सा लेने की गरज से, प्रोफेसर की इस बात पर छूटते ही कहा, 'हां, और क्या ? ऐसे उम्मीद-अरमानों पर तो खाक डाल देना ही बेहतर है ! क्यों, आपका क्या ख्याल है ?'

अपने घर से निकलकर, उन्हें होटल तक पहुंचाने के लिए, वे लोग कुछ दूर तक साथ-साथ आए थे । उनसे अगले दिन आने का बार-बार आग्रह भी किया ।

प्रोफेसर ने कहा, 'भई, आप दोनों प्राणियों के बीच मैं तीसरा व्यक्ति बनकर, आपका अभिशाप क्यों बटोरू ?'

उन्होंने मुस्कराते हुए निवेदिता की ओर देखा ।

निवेदिता कोई उत्तर दे, इससे पहले ही सत्यशरण को अपने कर्त्ता होने का दायित्व-बोध याद आ गया । उन्होंने छूटते ही कहा, 'अरे, नही ! नहीं ! यह क्या बात है ? आप ऐसा कुछ भी मत सोचिए । दरअसल, यह मन की बहुत भली हैं ।'

'अच्छा ? तब तो आप काफी खुशकिस्मत है ।' प्रोफेसर की उन्मुक्त हंसी से समूची निर्जन बालुका-भूमि मुखर हो उठी ।

निवेदिता मन ही मन रुष्ट हो उठी, 'ठहरो ! घर लौट-कर तुम्हें मजा चखाती हूं । जहां-तहां ऐसी बेवकूफी की बातें न करो, तो क्या काम नही चलता ?'

घर लौटने तक निवेदिता अपने पर काबू नहीं रख पाई। उसने रास्ते में ही डांटना शुरू कर दिया, 'तुम क्या समझते हो ? तुमने क्या बड़ी बुद्धिमानी की बात की है ?'

'क्यों ? क्यों ? कौन-सी बात, जी !'

'मन की बहुत भली हैं'—पति की नकल उतारते हुए उसने कहा, 'वाह ! वाह ! भले आदमी कैसे हंस दिए थे !'

सत्यशरण ने सिर खुजलाते हुए जवाब दिया, 'वाह ! इसमें हंसी की क्या बात थी ? जो भला है, उसे भला नहीं कहूंगा ?'

'नहीं, जरूरत नहीं है। काश, तुम्हारी किसी बात का सिर-पैर होता ! मैं पूछती हूं, चट् से उन्हें घर ले आने की ही क्या जरूरत थी ? हम दोनों मज़े में थे, अब वह घर आ-आकर उत्पात मचाएं !'

सत्यशरण ने असहाय भाव से समझाने की कोशिश की, 'अहा, तुम समझ नहीं रहे हो ! बिचारे भले मानस ने खुद आगे बढ़कर परिचय किया ! हम लोगों की तरफ से भी आग्रह दिखाना क्या उचित नहीं था ?'

'अच्छा ! लगता है, समुद्र की हवा खाकर तुम्हारा औचित्य-ज्ञान अचानक खुल गया ! तुम्हें तो इस बला से कभी कोई मतलब नहीं था ?'

'लो ! तुम तो हर बात में मज़ाक करने लगती हो ! लेकिन, उस समय तो तुम भी खास नाराज़ नहीं दिखी थीं, देवी ! अब क्यों इतना बिगड़ रही हो ?'

'और क्या मैं गलत कहती हूं कि तुम्हारी बुद्धि की वजह से कभी-कभी मर जाने की तबीयत होती है। अरे, तुम

जिससे भद्रता निभाते हुए 'आइए जनाव' कह रहे हो, अगर मैं भी उसको थोड़ी-बहुत इज्ज़त न दूं, तो वह आदमी आखिर क्या सोचेगा···अरे···अरे···यह क्या कर रहे हो ?'

अपना कुर्ता उतारकर बरामदे की अरगनी पर फैलाते हुए सत्यशरण सिटपिटा गए। पुरी की विश्रामहीन तूफानी हवा में वह किसी तरह भी कुर्ता नहीं फैला पाए। आखिर हारकर उन्होंने अपना मुड़ा-तुड़ा कुर्ता निवेदिता को सौंपते हुए कहा, 'असंभव ! मुझसे नही होगा। पुरी का वाकी सब कुछ ठीक है, लेकिन वावा, दिन-रात का यह आंधी-तूफान असहनीय है।'

निवेदिता ने कुशल हाथों से कुर्ते को डोरी पर फैला दिया और अपनी चेन में से दो सेफ्टी पिन निकालकर कुर्ते में लगाते हुए कहा, मुझे तो बस, इसीलिए सब कुछ इतना अच्छा लग रहा है, तूफान ही तूफान। सारे-सारे दिन-रात तूफान की झकोर। जैसा सागर, वैसी हवा। विरामहीन ! विश्रामहीन !'

'यहा आकर तो तुम कवि वन गई हो !' सत्यशरण यह कहते-कहते हाथ-मुंह धोने चले गए। सच वात तो यह थी कि निवेदिता का यह नया रूप उन्हें बिल्कुल अच्छा नही लगा था। कहीं से असुविधाजनक लगा था और किंचित भय-भीत कर गया था। हुंह:, आंधी-तूफान अच्छा लगता है— यह सुनते ही सारे शरीर में झुरझुरी फैल गई थी। वात दर-असल यह है कि—'दुनिया भर में एकमात्र प्रिया और मैं'— ऐसी नि:संग स्थिति की कल्पना कभी उनके दिमाग में ही नहीं आई थी।

सारा गुस्सा गौतम पर जा पड़ता है।

काश, वह भी साथ आ जाता। उसके आने से फटिक भी आता। यानी तब घर बिल्कुल घर-जैसा लगता।···एकदम से बिल्कुल अकेले-अकेले ! ऐसे में बातचीत के लिए एक भला मानस जुटा भी, जिससे दो-एक बातें करके जान में जान आए, तो निवेदिता को अखर गया। हैरत है !

हुंहः, सिर्फ बीबी से बातें ?

बातें भी आखिर कब तक की जा सकती हैं ?

उन भले मानस का नाम था—यतिश्वर मुखर्जी।

घर पर मां और दो भाई-भाभियां हैं। खुद ब्याह नहीं किया। हल्की-फुल्की ज़िंदगी, मज़े में थे। हालांकि किताब-विताब में ही डूबे रहना अच्छा लगता था, लेकिन अड्डेबाज़ भी थे। सौ बात की एक बात यह थी कि वह हर किस्म के आदमी से दोस्ती गांठ सकते थे।

वैसे बुद्धिमान जीव थे।

इन लोगों से ज़रा-सी ही मुलाकात में पूरी स्थिति का

अंदाजा लगा लिया। उन्होंने मन ही मन तारीफ की, गिन्नी (गृहिणी) तो खासी होशियार है, लेकिन बेचारा कर्त्ता ! बुद्धू-बुद्धू-सा, भलामानस ! कल उनके यहां जाना ही होगा !

तूफान ! और तूफान !

नहीं, ठीक तूफान कहना भी गलत है…तूफानी हवा। मुट्ठी-मुट्ठी-भर गीली नमकीन रेत उड़-उड़कर बाल, कपड़े और घरों के कोने-कोने में जमा होती जा रही थी। अरगनी पर लटकता हुआ सत्यशरण का कुर्ता अभी तक झूल रहा था, मानो वह शून्य में सिर पटक-पटककर प्राण दे देने को आमादा हो।

बरामदे मे समुद्र दिखाई नहीं पड़ता, उसे देखने के लिए छत पर जाना पड़ता है। यहां से तो सिर्फ गर्जन ! अंतहीन, अविश्रांत !

शायद वह कृष्णपक्ष की रात थी। आकाश में सिर्फ तारे ही तारे।

निवेदिता, शाम से ही खाली पड़ी आराम-कुर्सी पर आकर बैठ गई। जाने कितनी रात बाकी थी। दो या ढाई बजे होंगे।

यूं चुपचाप, अकेले-अकेले पड़े रहना खूब भला लग रहा है।

रोज़मर्रा की ज़िंदगी से जमीन-आसमान का फर्क !

यहां वह कलकत्ते वाली जानी-पहचानी निवेदिता बिल्कुल नहीं लगती। बैठे-बैठे समूचे शरीर में झुरझुरी फैल गई, देह जैसे अकड़ गई, लेकिन फिर भी उसे उठने की कोई जल्दी नहीं है। उसने सिर्फ अपना आंचल खींचकर गले तक लपेट लिया।

जाने क्यों नींद नहीं आ रही है।

उसे खुद अपने पर हैरानी होने लगी।

कलकत्ते वाले घर में कभी वह कल्पना भी कर सकती थी कि इस तरह आधी रात तक जगी हुई खुले आकाश के नीचे चुपचाप बैठी रहे !

कलकत्ते में समुद्र न सही, हवा तो है ?

समुद्र की उत्ताल तरंगों के थपेड़े सहती-सहती जो हवा समुद्रहीन नीरवता के देश पर बिखर जाती है, किसी-किसी बैसाखी शाम या आश्विन की रातों में वही हवा अपने साथ सागर-गर्जन भी बहा लाती है, और समुद्र की तरह ही दर्द से पागल होकर सारे-सारे दिन, सारी-सारी रात सिर धुनती रहती है। निवेदिता ने तूफानी हवाओं का यह पागलपन तो बहुत बार देखा है।

लेकिन उसने अपने को कभी इतना असहाय महसूस नहीं किया !

अपने को कभी इस तरह गुम नहीं होने दिया !

ऐसे बिखरे-बिखरे दिनों में तो वह अपने बाल-बच्चों

को खांसी के नाम पर डराया-धमकाया है, हाथ-पैर-गले तक मोटे-मोटे कपड़े पहनने को विवश किया है।

दिन हो या रात, अपने भरसक कभी भी खिड़की-दरवाजे खुले नहीं छोड़े, ताकि धूल की वजह से घर न गंदा हो। धूल से खौफ खानेवाली इस सनक के कारण, सत्यशरण से कई बार झगड़ा तक हो गया है।

यहां हर ओर भीगी हुई नमकीन रेत।

लेकिन निवेदिता का इस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यह निवेदिता आखिर कौन है?

बहुत दिनों पहले अपने नन्हे-नन्हे रुअंटे भाई-बहनों का रोना-बिसूरना सभालते हुए, बीच-बीच में जो खुद रो देती थी, वह?

या वह जो विशाल परिवार की भीड में खोई हुई घूंघट वाली दुलहन, जो हर घड़ी दूसरों को खुश करने में दिन गुजार रही थी और हर वक्त भविष्य की रंगीन तस्वीर आंका करती थी? क्या उसी का नाम निवेदिता है?

और यह जो, अपने ही परिमंडल में दीप्त, उज्ज्वल, अपने ही आत्मबोध से संयत, सचेतन, महिमामयी निवेदिता है? जो बहुत-से लोगों के भय या सम्मान या ईर्ष्या की पात्र बनकर राज कर रही है, यह कौन है?

इतने दिनों से वह जिसे सचमुच ही 'निवेदिता' समझती आई है, उसके अलावा और भी कहीं कोई है, जिसका नाम 'निवेदिता' है?

अच्छा, वह निवेदिता क्या वाकई जिंदा थी?

या उसने नया जन्म लिया है?

उसकी सूरत-शक्ल कैसी है ?

सुना है, इंसान बार-बार जन्म लेता है, बार-बार मरता है ! देहांतर के स्वीकृत नियमों के अनुसार ही जन्म-मृत्यु का यह सिलसिला चल रहा है !

लेकिन कभी-कभी देहांत के बिना ही, इंसान एक ही शरीर में कई-कई मौतें नहीं मरता ? या एक ही जन्म में कई-कई बार जन्म नहीं लेता ?

इंसान तो हर पल मरता है, हर पल नये रूप में जन्म लेता है ! इतने ढेर सारे जन्म-मृत्यु से गढ़े हुए इंसान को आखिर 'एक-अकेला' कैसे कहा जाए ? आखिर उसके हर रूप को कैसे पहचाना जा सकता है ?

'यह क्या ? तुम कब उठकर, इस तूफानी हवा में आ बैठी ?' सत्यशरण डेक-चेयर के पास आकर खड़े हो गए।

निवेदिता भी शिथिलता छोड़कर उठ बैठी।

'जरा देर पहले ही तो आई हूं, और तुम यहां भी हाज़िर हो गए ? क्या लगा, मैं तुम्हें छोड़कर कहीं भाग तो नहीं गई ?'

'हां, ऐसा ही कोई ख्याल आया था ! तभी तो बौखलाया हुआ तुम्हें खोजने निकला ! अच्छा, अब चलो, अंदर चलो। काफी हवा खा ली !'

'तुम चलो न, मैं आती हूं, या तुम भी बैठोगे जरा देर ?'

'मेहरबानी रखो ! घर का जो हाल है ! खूंटी पर टंगे हुए सारे कपड़े जमीन पर लोट रहे हैं और तुम्हारे मेज़पोश का कोना उड़-उड़कर पंखे से टकरा रहा है और लग रहा है, जैसे कोई चप्पल पहनकर सारे कमरे में घिसट रहा

है !···मैं तो काफी देर का जगा हुआ हूं। तुम्हें ही हवा खाते-खाते वक्त का अहसास नहीं है !'

निवेदिता उठ गई, 'चलो, तुम सो जाओ ! मैं यह कुर्सी और तुम्हारा कुर्ता समेटकर आती हूं।'

अरे ? यह कुर्ता अभी तक यहीं है ? कमाल है ! पिन का खोंच लगकर कहीं फटफुटा तो नहीं गया ?'

फट जाए तो बला टले ! तुम्हारा कंधों-लटकता कुर्ता है न ?'

निवेदिता अभ्यस्त भाव से लौट आई थी। अभ्यस्त कुशलता से पलक झपकते ही कुर्सी और कुर्ता यथास्थान रख-कर वह बिस्तर पर आकर लेट गई !

सत्यशरण ने कहा, 'यहां आकर, तुम जाने कहा से बदल गई हो !'

निवेदिता भी हंस दी, 'बदल तो जाना ही चाहिए। वरना 'चेंज' का मतलब क्या हुआ ? इतना रुपया खर्च करके आने की ही क्या जरूरत थी ?'

सुवह आमंत्रित अतिथि के कारण चाय के साथ नाश्ते का आयोजन कुछ वढ़ गया।

निवेदिता ने काफी कुछ वना डाला था।

अचानक वरामदे में आकर पति से कहा, 'तुम्हारे मेहमान तो खूव आए! कल शराफत के मारे आने का वादा तो कर लिया। मेरे लिए कर्मभोग!'

'वाह! यह कैसे हो सकता है! हम लोगों ने इतना-इतना कहा! और वह खुद भी—लेकिन अभी कोई खास देर नहीं हुई! आते ही होंगे!'

'रात के समय देखा है, घर तो पहचान लेंगे? यहां आकर तो मेरे सामने सारे रास्ते गडमड हो गए हैं।'

'तुम अपनी वात तो रहने दो! सुना नहीं, वह महाशय यहां चार-चार वार आ चुके हैं! क्या-क्या वना डाला?'

'हाथी-घोड़ा···वहुत कुछ! जैसी तुम्हारी आदत! समाज-घर-गृहस्थी दो दिन के लिए हवा खाने आई तो यहां भी जाने कहां-कहां से झमेला जुटा लिया।'

सत्यशरण किंचित आहत हो उठे।

निवेदिता को सचमुच कोई परेशानी होगी, उन्हें यह स्वप्न में आशंका नहीं थी। वह तो लोगों को खिला-पिलाकर खुश ही होती है।

वह कुछ बोलने ही जा रहे थे कि उन्होंने देखा, निवेदिता की चढ़ी हुई नाक-भौंह की जगह, अचानक उसके चेहरे पर अनुपम उजली आभा चमक उठी। वह दोनों हाथ जोड़कर किसी का स्वागत कर रही थी, 'अरे, आइए। इतनी देर से आपकी खूब-खूब बुराइया कर रही थी।'

सत्यशरण ने राहत की सांस ली।

यानी अभी तक वह मज़ाक कर रही थी।

सचमुच यतिश्वर काफी दिलचस्प इंसान है।

खाने के मामले में ऐसा एक खुश-खुश माहौल भी रचा जा सकता है, निवेदिता सच ही नहीं जानती थी।

ज़िंदगी में अनेक बार खाना तैयार किया है, बढ़िया-बढ़िया डिशेज बना-बनाकर, लोगों को बुलाकर खिलाया-

पिलाया भी है। वैसे भी उसके खाने की कहीं तारीफ नहीं की जाती, यह बात भी नहीं थी। उसके देवर-नंदोई वगैरह कितना हो-हुल्लड़ मचाते हुए, हर चीज खूब स्वाद ले-लेकर खाते-पीते हैं, लेकिन ऐसी परिमार्जित, शिष्ट, सरस तारीफ और किसी ने कभी की थी ?

ऐसी तारीफ भला किसे आती है ?

वे सब तो जाने कैसे स्थूल लगते हैं।
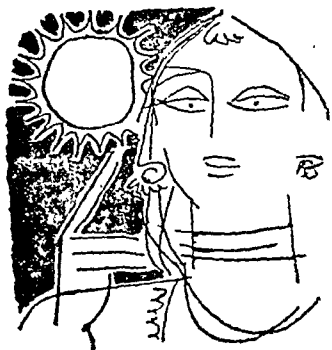
यतिश्वर ने कहा, 'आप तो चेंज में आई हैं न ? इतना सारा जुगाड़-पानी कहां से कर लाईं ?'

निवेदिता ने झेंपते हुए जवाब दिया, 'आपने ऐसा कौन-सा जुगाड़-पानी देख लिया ?'

'भई, इस मामले में मैं क्या खाक जानता हूं ? खाना बनाने में बहुत-सी चीजों की जरूरत पड़ती है; बस, इतना-भर ही जानता हूं। अच्छा, आपको एक निहायत घरेलू बात बताऊं ! यूं मैं हमेशा अकेला ही निकलता हूं, लेकिन एक बार मेरे मंझले भैया को भी शौक चर्राया। सो वह सपरिवार मेरे

संग हो लिये। अच्छा, भई, चलो! ज्यादा दूर नहीं, बिल्कुल करीब ही, घाटशिला तक। वहां मेरे एक छात्र का मकान था; माली किस्म का एक नौकर भी मिल गया। सो हम सब काफी खुश थे।···लेकिन सामान समेटने-जुटाने की तैयारियों का क्या कहना! स्टोव आया, कुकर भी आया। मंझले भैया ने और कुछ नहीं तो कांच, एल्यूमिनियम, एनामेल के एक ढेरी बर्तन ही खरीद डाले। हरेक तरह की शीशी-बोतल-डिब्बे। आखिर मुझसे जब नहीं रहा गया तब पूछ ही बैठा—'मंझले दा, यह सब आखिर क्या कर रहे हो? तुम क्या समूचा कलकत्ता ही उठाकर ले जाना चाहते हो?

'मझले भैया ने कहा—तू कुछ नहीं समझता! औरतें किसी किस्म की अव्यवस्था या असुविधा बरदाश्त नहीं कर सकतीं। भई, तेरी मंझली भाभी की फरमाइश है। जरा भी इधर-उधर होने का उपाय नहीं। सारा कुछ ठीक-ठाक होना जरूरी है।

'मैंने भी मन ही मन स्वीकार किया है, औरतों के मामले में वाकई में कोई दावा नहीं कर सकता! और जरा-सा इधर-उधर होने से ऐसा क्या सर्वनाश हो सकता है, यह भी मुझे नहीं मालूम था! खैर, साहब, दिन बड़े आराम से बीतेंगे, बस, इसी मौज में डूबे हुए थे। जा बाबा! पहली ही रात से सुव्यवस्था का जो नमूना पेश आया ··वाह! आश्विन के आखिरी दिन। कलकत्ते में खासी गर्मी थी। लेकिन बाहर हल्की-हल्की ठंड पड़ने लगी थी—खास तौर से रात के समय।

'अपने दोनों बच्चों को सुलाकर, मंझले भैया ने हुक्म दिया—इनको एक चादर-वादर उढा दो! ठंड लगेगी।

'मंझली भाभी ने अवाक होकर कहा—ओढ़ने की चादर ? वह कहां मिलेगी ? मैं तो अधिक चादरें लाई ही नहीं।

'मंझले भैया दहाड़ उठे—बहुत अच्छा किया ! अपने लिए साड़ियां तो तीन दर्जन लई हो ना !

'अब यह बताना फिजूल है कि भद्र महिला भी भड़क गई।'

'और नहीं तो क्या ? साड़ी का ताना देने पर भला कौन औरत नहीं भड़क उठेगी ?' निवेदिता ने अपनी राय दी।

'हूं, उन्होंने फौरन जवाब जड़ा—शिमला-टिमला नहीं आई हूं ! मुझे क्या मालूम था कि यहां रजाई-कंबल समेत आना चाहिए था ! फिर भी मैं अपनी बुद्धि से बच्ची के छोटे-मोटे स्वेटर लेती आई थी कि सुबह-सवेरे घूमने-फिरने जाएंगे। इतना कुछ सोच-समझकर तो सारा सामान लाई—खैर, साहब, मेरे पास यूं भी दो-एक चादरें अधिक रहती हैं। अतः यह मोर्चा तो किसी तरह शांत हुआ ! अगली सुबह फिर शुरू—कर्ता-गिन्नी में उच्च स्वर में प्रेमालाप सुनकर मैंने दरियाफ्त किया कि मामला क्या है ? पता चला, मंझले भैया का साबुन, टूथपेस्ट, आईना, कंघी और सेविंग-सेट भाभी लाना भूल गई थीं।'

'जाइए, आप बना रहे हैं ! ये सब चीजें क्या कोई भूल सकता है ?' निवेदिता ने कहा।

'अजीब बात है ! भई, मैं क्यों बनाने लगा ? भला मंझली भाभी ही क्या यह नहीं जानती थीं कि ये चीजें भूलने लायक नहीं हैं ? कहीं भूल न जाएं, इसीलिए उन्होंने ये सारी

चीजें एक छोटी-सी अटैची में भर ली थीं, लेकिन बस, उसे लाना ही भूल गई।

'बहरहाल, वह झंझट भी किसी तरह मिटाया गया। मंझले भैया ने कहा—एक काम करो! दोनों स्टोव जला लिये जाएं। मैं चाय-वाय बना लेता हूं, तुम दो-चार पूरियां और आलू की सब्जी उतार लो। बस, खा-पीकर घूमने निकल पड़े।···लौटकर बाकी काम फटाफट समेट लिया जाएगा! और कुछ नहीं···बस, मांस और भात! क्यों, तू क्या कहता है, यति?

'मैंने कहा, काफी है!—बगल के कमरे में स्टोव जलने की आवाजें आने लगीं। अचानक समुद्र-गर्जन से भी ऊपर एक और गर्जना सुनाई दी···यानी वही दाम्पत्य प्रेमालाप!

'लो, पूरी नहीं बन सकती! चकला-बेलन नहीं आया।

'भूख लगने पर मंझले भैया को यूं भी होश नहीं रहता। वह पूरी तरह भड़क गए और ऊंची आवाज में दहाड़ने लगे—तब दस दिन से क्या तुम घोड़े का अडा समेट रही थीं? ये-वो लाने में मेरी जेब तो साफ हो गई। परदेश आकर रसोई-पानी करने के लिए एक चकले-बेलन की भी जरूरत पड़ती है, तुम्हें इतना भी नहीं मालूम?

'उफ! महा मुश्किल में पड़ गया! अब यह चीज तो मेरे सूटकेस में खोजने पर मिलने से रही। नतीजा यह हुआ कि बच्चों के लिए लाए दो डब्बे बिस्कुटों में से पांच जनों ने मिलकर एक डब्बे का उसी क्षण सदुपयोग कर डाला। अब कल की बात कल देखी जाएगी! लेकिन दोपहर के वक्त नाटक जरा और जम उठा। घूमकर लौटने के बाद बच्चे भूख-भूख

चिल्लाने लगे। मंझले भैया की भी करीब-करीब वही हालत। लौटते समय उन्होंने हम लोगों को आगे भेज दिया और खुद अपनी धोती के खोंचे में आलू-प्याज़ और मांस खरीदते हुए घर लौटे। अब यह तय हुआ कि कल से घूमने जाते समय बाज़ार-हाट करने के लिए एक थैला भी साथ चलेगा।

'मझले भैया बड़े उत्साह से रसोई में लग गए।

'भाभी एक नहीं दो-दो बोटियां (एक प्रकार की छुरी, जिसे पांव में फंसाकर सब्जी काटी जाती है) लाई हैं, इसके लिए भैया ने उनकी तारीफ का पुल ही बांध दिया!'

निवेदिता ने हंसकर सवाल किया, 'आप न···खूब नमक-मिर्च लगाकर बातें सुनाते हैं! अब दो-दो बोटियां किसलिए? दोनों प्राणी मिलकर सब्जी काटते?'

'नहीं, नहीं, यह कौन कहता है? भई, एक फलों को काटने के लिए नहीं थी। खैर, कुछ देर बाद फिर वह बंदूक की धांय-धांय! उस समय चिलचिलाती हुई धूप थी। रात की ठंडक का लेशमात्र भी नहीं था।

'अब मुझसे नहीं रहा गया, मैंने जाकर कहा—उफ मंझले दा, यह सब क्या कर रहे हो? भूख बढ़ाने का क्या यह कोई नया तरीका है? किस कदर चीख रहे हो?

'मंझले भैया बोले—चीखूंगा नहीं? तुझे पता भी है? सब कुछ अपने हाथों से ठीकठाक करके, मांस चढ़ाकर, जैसे ही गरम मसाला मांगा, तेरी भाभी जैसे आसमान से गिरी! कहती है—गरम मसाला! गरम मसाला! गरम मशाला लाने की किसको पड़ी थी! सुना? सुन लिया न तूने?

'मैं उनका मिजाज़ ठंडा करने के लिए हंस पड़ा, ऐसा है

कि गरम मसाले के बिना मांस नहीं पकाया जाता, ऐसा कोई कानून है ? आज वैसे ही बनाकर देखो न !

'नहीं ! ऐसा-वैसा खाना मैं नहीं पकाता । उसका मन हो तो पकाए । यह कहकर वह सीधे विस्तर पर जा लेटे ।

'उफ ! उस भरी दोपहरी में गरम मसाले की खोज में कितनी दौड़-धूप करनी पड़ी !'

'क्या कह रहे हैं ? आपको दौड़ना पड़ा ?'

'अरे, वाह ! इसके अलावा और कोई उपाय था ? गांव का मामला···आसानी से कुछ मिलना ही मुश्किल ! और उसी दिन से वह कमबख्त माली मुझे गरम मसाला बाबू कहकर बुलाने लगा ।'

अब तक सत्यशरण खुशी के मारे मंद-मंद मुस्करा रहे थे । इतनी देर बार उन्होंने भी उत्साहित होकर छौंक लगाया, 'और यह ? आप अगर आधी रात को बाघिन का दूध भी मांगें तो आपको निराश नहीं होना होगा ।'

'तुम रुको तो ।' निवेदिता ने झंकारती हुई आवाज में कहा, 'हर बात जरा सोच-समझकर मुंह से निकाला करो।'

सत्यशरण ईषत् सकपका गए, लेकिन अपनी इज्जत की खातिर अड़े रहे, 'वाह, मैं कोई झूठ बोल रहा हूं ? ट्रेन से उतरते ही जब सिर-दर्द शुरू हुआ, तब क्या हुआ था ?··· बात यह है, जनाब, मुझे एक बहुत बुरी बीमारी है । जरा भी इधर-उधर हुआ नहीं कि मेरे आधे सिर में दर्द शुरू हो जाता है । समय-असमय कुछ नहीं, बस, शुरू हो गया तो गए काम से ! मेरी मां लाल चंदन घिसकर लगा देती थी, आज भी हमेशा वही लगाता हूं, और सिर-दर्द ठीक हो जाता है ।

अरे साहव, मैं तो आश्चर्य में पड़ गया जव घर में कदम रखते ही घिसा हुआ लाल चंदन लिए-दिए यह हाज़िर हो गई। अभी मैंने ट्रेन वाले कपड़े भी नहीं वदले थे।'

हंसते हुए यलिश्वर के शुभ्र दांत चमक उठे, 'जितना-जितना मैं सुन रहा हूं उतना ही आपके सौभाग्य पर मुग्ध हो रहा हूं, सत्यनारायण वावू!'
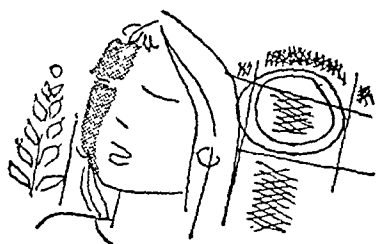
देख लिया न अपने सुपुत्र को! एक चिट्ठी टिकाकर वस्स, 'वावू साहव ने सारे कर्त्तव्यों से छुट्टी पा ली।'

निवेदिता किताव का पन्ना मोड़ते हुए चौंक उठी, 'चिट्ठी? कहां? किसने भेजी?'

सत्यशरण ठठाकर हंस पड़े, 'तुम तो विल्कुल नासमझ वच्चों-जैसी वातें कर रही हो! अरे, और कौन चिट्ठी लिखेगा? चिट्ठी नहीं भेजी, इसीलिए तो गुस्सा आ रहा है। मैं श्रीमान गौतम वावू की अक्ल की बात कर रहा था! और क्या होगा? खाने-पीने की तकलीफ पा रहा है। इसीलिए वावू साहव गुस्से के मारे मान किए वैठे हैं।'

निवेदिता बुरी तरह सकपका गई। वह सत्यशरण की हां में हां मिलाते हुए, न तो वेटे की अक्ल को रो सकती है,

न उसका पक्ष ही ले सकती है।

वैसे पति की मन:स्थिति उनकी समझ में आ रहा है। बेटे के लिए उनका मन कचोट रहा था। उसके खाने-पीने को लेकर उन्हें जो तकलीफ हो रही थी, उसे ही गुस्सा और मान के नाम पर वह बेटे के सिर मढ़ने की कोशिश कर रहे थे।

अचरज है, निवेदिता के बजाय सत्यशरण उदास हो रहे थे। इधर कुछ दिनों मे उसे तो गौतम एक बार भी याद नही आया? उसे कलकत्ते की ही कितनी बार याद आई है? अनाड़ी फटिक ने क्या पकाया-खिलाया, घर-द्वार कितना गंदा पड़ा होगा—यह सब सोच-सोचकर किसी दिन वह अस्थिर हुई है?...

शुरू-शुरू में तो खैर, उसे अपने बेटे पर ही भयंकर मान हो आया। कभी कही जाना नही होता। इस बार सत्यशरण के दोस्त की मेहरबानी से यह घर मिला था। इसीलिए तो उसका इतना मन हो आया कि पति-पुत्र समेत वह कुछ दिनों की छुट्टियां मना आए। लेकिन बेटे ने उसकी इच्छा को ठुकरा दिया।

लेकिन फिर भी, वह मां थी। उसके मन में यह मान कभी अहम् हो सकता था? बेटे के लिए उसका मन उदास नहीं होगा? उसे तकलीफ-असुविधा में छोड़ आई है! यहां आकर ऐसी निश्चित हो गई कि उसे भूल ही बैठी।

निवेदिता का स्वभाव तो ऐसा नहीं था।

उसे चुप देखकर सत्यशरण ने दुबारा पूछा, 'अच्छा बताओ तो, हमें यहां आए कितने दिन हुए हैं?'

निवेदिता को वह दिन याद है!

उन्होंने खुद महसूस किया है कि ये तमाम दिन कितनी तेज़ी से गुज़रते जा रहे हैं। जाने कहां, किसी गहरे स्वप्न के नशे की तरह···

'हमें आए आज तेईस दिन हो गए!'

'इतने दिनों फटिक के हाथ का खाना खाते-खाते, बच्चू की सारी पढ़ाई-लिखाई ताक पर उठ गई होगी! क्यों?'

यानी सत्यशरण बेटे की बातें करना चाहते थे। निंदा के बहाने स्तुति की तरह।

'अरे, नहीं, इस मुगालते में न रहना। तुम्हारा बेटा ऐसा-वैसा नहीं है। वह टूट जाएगा, लेकिन झुकेगा हरगिज़ नहीं!'

निवेदिता मानो किसी और दुनिया से अपनी दुनिया मे लौट आई।

सत्यशरण ने कहा, 'एक काम किया जाए तो कैसा रहे? उसको जरा खास तौर पर एक खत दूं कि वह चला आए। छुट्टी के वाकी दिन यहां बिताकर, हम लोग एकसाथ ही···'

निवेदिता ने सहसा सख्त लहजे में अपनी राय दे डाली, 'नहीं! हमीं लोग लौट चलने की सोचें! अब यहां रहने की जरूरत ही क्या है?'

सत्यशरण अचकचा गए। उन्हें समझ नहीं आया कि यह सख्ती किसके ऊपर है। पति पर? या पुत्र पर? लेकिन क्यों? बेटे के प्रति जो नाराज़गी या मान था, यहां आने पर तो उसका नामोनिशान तक नहीं दिखाई पड़ा! 'जरूरत ही क्या है'—इस वाक्य में कोई गहरा अर्थ है?

अरे, भई, तब आने की ही क्या जरूरत थी?

इतनी कोशिश करके पूजा की छुट्टियों के साथ और एक

महीने की छुट्टी गढ़ने की ही क्या जरूरत थी?

लेकिन डर के मारे उन्होंने कुछ भी नहीं पूछा।

आजकल अक्सर उन्हें निवेदिता को समझने में दिक्कत होने लगी है।

लेकिन खुद निवेदिता ही क्या समझ पाई है कि उसकी यह सख्ती खुद अपने ऊपर ही है! अचानक जैसे उसे अपनी किसी गलती का अहसास हो गया हो, यह उसी की ग्लानि है।

यहां आकर भला उन्होंने ही घबराहट में ऐसी कौन-सी चिट्ठी लिख डाली गौतम को? परदेस-बसी बेटी को तो एक भी खत नहीं डाला!

सत्यशरण से यतिश्वर के परिचय के बाद से ही जैसे एक अलिखित नियम बन गया। घूमने निकलकर यतिश्वर पहले उनके घर हाजिर होते, फिर चाय-वाय पीकर तीनों एकसाथ निकलते।

हालांकि यह नियम कहीं से भी उचित नही लगता। यतिश्वर भी अगर सपत्नीक होते, तो सब शोभन लगता।

लेकिन एक युगल-दंपती के बीच में तीसरा व्यक्ति बिल्कुल अनमेल नहीं लगता। दो-एक दिन बाद यतिश्वर ने इस व्यवस्था से बचने की काफी कोशिश की, लेकिन बच नहीं पाए। उनकी आग्रह-मिन्नतों की वजह से ही मना नहीं कर पाए।

वाकई, सत्यशरण बेतरह आग्रह करने लगते हैं।

दरअसल, वह घर-गृहस्थी वाले सामाजिक इंसान हैं। अपना चिरपरिचित परिवेश, कार्यालय के अभ्यस्त काम-काज, दोस्तों का साथ—सब कुछ छोड़-छाड़कर, यहां महज़ एक अदद बीवी की संगति में मानो बुरी तरह हांफ उठे थे। इसके अलावा पति-पत्नी के बीच बातचीत के जो परिचित विषय थे, यहां वे कुछ भी नहीं हैं। और जो कुछ है भी, उसमें निवेदिता का मन साथ नहीं देता।

ऐसी हालत में किसी तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति बिल्कुल आशीर्वाद-सरीखी लगी थी।

हां, सत्यशरण ने यतिश्वर का आश्रय थामा था।

उसकी आरज़ू-मिन्नत ठुकराना बहुत मुश्किल हो आता है।

और निवेदिता?

वह तो अजीबोगरीब रहस्य है।

वह मानो किसी अकल्पित संशय का रूप धरकर यतिश्वर के सामने आकर खड़ी हो गई है।

यतिश्वर के संग-लाभ के प्रति सत्यशरण जो आग्रह प्रकट करते हैं, निवेदिता तो उसके शतांश का एकांश भी नहीं करती। बल्कि बहुत बार वह पति की बातों का विरोध करती है। यतिश्वर की सुविधा-असुविधा का सवाल उठाकर

पति को रोकने की कोशिश करती है। लेकिन यह क्या सब कुछ है?

यतिश्वर के आते ही उनकी आंखों और चेहरे पर जो रोशनी फैल जाती है, वह क्या नज़र-अंदाज़ किया जा सकता है? सत्यशरण जैसे 'भोले बाबा' की आंखों में अगर वह नागवार न भी गुजरे, लेकिन यतिश्वर की तीखी दृष्टि की परिधि से वह अपने को कैसे छुपा सकती है?

जुबानी विरोध के साथ आंखों के अनुनय की भाषा में कहीं कोई तालमेल खोज पाना असंभव था।

यतिश्वर अवाक् हो उठे! उन्होंने अविश्वास करना चाहा है, अपनी राय को महज़ गलतफहमी कहकर उड़ा देने की कोशिश की है, लेकिन सब बेकार। यतिश्वर के प्रति निवेदिता की असावधान, मुग्ध दृष्टि सच बात का पता दे जाती है।

जब वह एक गंभीर विचारक की हैसियत से अपने इस अकल्पित संशय का विश्लेषण करने की कोशिश करते हैं तो बेहद निरुपाय हो जाते हैं।

लेकिन क्या यह संभव है?

सचमुच, क्या यह मुमकिन है?

उफ! कैसे बेचैन कर जाते हैं ये ख्यात!

हालांकि इस बारे में सोचने का मन भी करता है, लेकिन सोचते हुए शर्म भी आती है। हां, अपनी ही नजर में अपने प्रति शर्मिन्दगी होती है। कभी-कभी यह आशंका भी होती है कि कहीं बुद्धि तो भ्रष्ट नहीं हो गई, वरना मन में ऐसे-ऐसे संदेह जागते। ऐसा नामुमकिन-सा, अवास्तविक संदेह!

इसके वजाय जब वह उनके साथ घूमते-फिरते रहते बातें होतीं या वहस में उलझे रहते, उस वक्त ऐसे ख्याल उन्हें कम परेशान करते थे। कैसा हास्यास्पद लगता है यह संदेह।

लेकिन जब वह लौट आते हैं ?

अकेले होते हैं ?

तब ? तब निवेदिता की उम्र का क़तई कोई लिहाज़ या ख्याल नहीं रहता। उसका गृहिणी-रूप भी याद नहीं आता। उन्हें तो यह भी याद नहीं रहता कि अभी उसी दिन सत्य-शरण से बातों-बातों में उम्र का भी हिसाब-किताब हो गया था ! यतिश्वर उम्र में निवेदिता से कुछेक महीने छोटे साबित हुए थे।

उन्हें तो लगता है, मानो निवेदिता ही एक छोटी-सी, नन्ही-सी लड़की है।

यतिश्वर अपनी दीर्घ, अविवाहित ज़िंदगी में कभी ऐसी असहाय स्थिति में नहीं पड़े थे। अपने को किसी दिन भी यूं हारा हुआ महसूस नहीं किया था।

उन्होंने खूब-खूब सोचा, सब कुछ को हंसकर उड़ा देने की अजहद कोशिश की। लेकिन कहां कुछ हो पाया ?

दोनों वक्त किसी का बेहद आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचता रहता था। वहां जाने के अलावा और कोई राह नहीं बचती। वह हर दिन फैसला करते हैं, अच्छा, आज बस, आखिरी बार! आज के बाद चाहे कुछ भी हो…! लेकिन अगले दिन फिर वही हाल। जाए बिना गति ही नहीं थी। और कुछ नहीं तो कहीं नयी जगह साथ चलने की धुन सवार हो जाती। नयी जगह ले जाने की सारी ज़िम्मेदारी मानो यतिश्वर की ही थी।

सत्यशरण तो खैर, चिरनाबालिग थे। अगर यतिश्वर न मिलते तो महज़ जगन्नाथ जी के अलावा, दूसरी नयी-नयी जगहें देखना क्या संभव हो पाता? कहीं किसी अनजानी जगह जाने की बात उठते ही, सत्यशरण की परेशानियों का अंत नहीं रहता।

मानो पुरी कोई बहुत असाधारण जगह है।

जो भी देखने लायक जगहें हैं, सभी तो बिल्कुल आस-पास है। वहां तक जाना दुर्लभ भी नहीं था, दुःसाध्य भी नहीं।

दरअसल पुरी में जो सचमुच देखने लायक चीज है, उसे तो किसी भी कोने में, रेत के टीले में धंसकर देखा जा सकता है। इसके लिए न दौड़-धूप की जरूरत है, न अफरातफरी की। वहां के लिए टिकट भी नहीं कटाना पड़ता, चढ़ावे वगैरह नहीं चढ़ाने पड़ते। और तो और, उस विराट महान देवता के, समय के जरा से हेर-फेर के कारण दर्शन न हो पाने का भी भय नहीं! उनके पट कभी बंद नहीं होते थे— न भोग के लिए, न शयन के लिए। वहां तो हर वक्त अनंत-

कालीन आरती की धूम !

फिर भी जब 'सिद्ध वकुल' या 'गौरांग की फटी कथरी' देखने जाते समय, उनके वगैर ही जाना पड़ता था।

अब ये सब जगहें विना देखे लौट गए, तो लोग क्या कहेंगे ?

गाल पर हाथ रखकर हैरत-अंगेज़ निगाहों से घूरेंगे नहीं ?
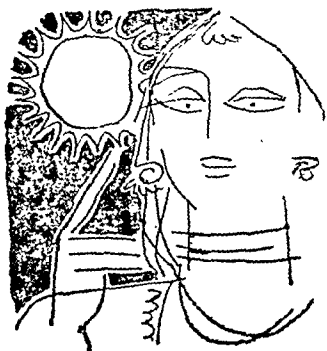
अब तो 'फटी कथरी मठ', मंदिर वगैरह देखने जाने का सिलसिला भी खत्म हुआ। अब निवेदिता ने एक नयी फरमाइश जड़ दी। इतनी दूर आकर भी, अगर कोणार्क नहीं देखा, तो ज़िंदगी ही वेकार !

उसकी बात सुनकर सत्यशरण पर जो मानो आकाश टूट पड़ा।

निवेदिता को क्या नहीं मालूम कि कोणार्क के रास्ते में हर झाड़ी-झुरमुट में वाघ और हर खोह-गह्वर में डाकू छिपे रहते हैं, जो मौका पाते ही गर्दन पर सवार हो जाते हैं !

अरे भई, पुरी आए, बहुत अच्छा किया। जगन्नाथ जी के दर्शन करो, सागर-स्नान करो, दो-एक कटकी साड़ियां और बेतर-कांसा के बर्तन खरीदो। यहां-वहां घूम-फिर लो! बस, और क्या?

फिर लौटने के लिए बोरिया-बिस्तर बांध लो! बस्स!

अब यह कैसी दुःसाहसी साध?

उनकी बातें सुनकर निवेदिता ने स्वयं सवाल किया, 'पुराने जमाने से लेकर आज तक जो लोग कोणार्क नामक विजन, जंगली पथ पर मां-मां करते आए हैं, लगता है, वे सभी अपनी यात्रा में बाघ के दांत या डाकुओं के हाथों 'महायात्रा' के पथिक बन गए हैं न?'

उस दिन कर्त्ता-गिन्नी की तू-तू, मैं-मैं के बीच जाने कहां से यतिश्वर आ पड़े।

सत्यशरण उल्लास से भर उठे, 'अरे भैया, तुम आ गए? मैं पूछता हूं, कल तो तुम बीच राह में पटाखे में माचिस दिखाकर, आराम से खिसक लिए? इधर यह पटाखा ऐसा फूटा कि मेरी तो जान पर बन आई।'

सरस और वाक्पटु यतिश्वर से उन्हीं की तरह जरा रसीले लहजे में बात करने की गरज से आजकल सत्यशरण भी, काफी कोशिशों के बाद, इस तरह की हंसी-दिल्लगी करना सीख गए हैं।

यतिश्वर ने अचकचाकर बारी-बारी से दोनों की तरफ देखा और पूरी स्थिति का जायजा भी ले लिया। बात यह थी कि कोणार्क की बात कल उन्होंने ही छेड़ी थी।

खैर, सत्यशरण की बातों के उत्तर में उन्होंने हंसते हुए

पूछा, 'क्यों, क्या हुआ ?'

'होगा क्या ? वही कोणार्क ! कल से दिमाग में घूम रहा है। सारी रात नींद हराम। आधी रात को आंख खुली तो खिड़की के पास तनकर बैठी हुई !'

निवेदिता झेंप गई। उसने झुंझलाकर कहा, 'हां ! हां ! आधी रात को कोणार्क की चिंता में तो घुलती हुई बैठी थी खिड़की पर ? ऐसी आलतू-फालतू बातें करते हो न !'

'अच्छा, तो तुम ही बताओ, खामख्वाह नींद क्यों नहीं आई ?'

'नहीं आई—तो नहीं आई ! तुम्हारी तरह सब कुंभकर्ण तो हैं नहीं कि तकिये पर सिर रखते ही नींद में बेहोश !'

यतिश्वर भी हंस पड़े, 'वैसे वहां जाने में दिक्कत क्या है ? अपने होटल से बहुत से लोग जा रहे हैं। प्रायः रोज ही एक न एक दल तैयार हो जाता है।'

'जो जाता है जाए, भैया ! मुझे यह ठीक नहीं लगा। नाहक ही भले-चंगे शरीर को कष्ट देना ! अरे, भैया, दुनिया में तो बहुत-बहुत-सी चीज़ें हैं देखने लायक, लेकिन कितनी चीजें लोग देख पाते हैं ?'

यतिश्वर ने हंसते हुए कहा, 'वैसे मेरी भी राय बहुत-कुछ आपसे मिलती-जुलती है। लेकिन...'

लेकिन ? मेरे घर में आग लगाकर अब मज़ा देखने के लिए मुकर रहे हो ! क्यों ?—सत्यशरण अपने मज़ाक पर खुद ही हंस पड़े।

निवेदिता ने यतिश्वर की तरफ देखते हुए कहा, 'इस

वक्त तो खूब बातें बना रहे हैं। उस दिन तो कह रहे थे कि आप दो-दो बार कोणार्क हो आए हैं ?'

'अरे, वह तो किसी दल-बल के चक्कर में—और क्या ?'

'इस्स ! लेकिन उस दिन तो आप कह रहे थे कि आपको कोणार्क बेहद पसंद है ?'

'अच्छा ! मैंने यह कहा था ? लेकिन, ऐसी कोई बात नहीं। असल बात यह है कि···'

सत्यशरण ने कहा, 'ओह···अब तुम लोग फिर असल बात पर उतर आए ? तब तो पहले चाय-शाय का इंतज़ाम कर लेना चाहिए, जी ! जरा गला तर करके शुरू होना ही बेहतर है !·· बहस एक बार शुरू हुई, तो घंटों चलेगी !··· तुम भी तो बहस का मौका पाते ही फिर···'

निवेदिता ने कहा, 'ठीक है, आज मैं चुप !'

यतिश्वर की निगाहें निवेदिता को पढ़ती रहीं, अचानक उन्होंने मुस्कराते हुए शांत स्वर में कहा, 'वह भी तो बरदाश्त नहीं होगा ! सागर अगर यह आश्वासन दे बैठे—अच्छा, अब मैं एक चुप, हजार चुप—तो आप उसे सह पाएंगी ?'

पल-भर के लिए निवेदिता के चेहरे का रंग उड़ गया। लगा उसके पास इसका कोई जवाब नहीं। लेकिन अगले ही पल वह हंस पड़ी, 'अच्छा, तो बात घुमाकर कही जा रही है ! मेरी बातों की तुलना सागर-गर्जन से की जा रही है ? क्यों !'

'भई, यह भी वही बता सकते हैं, जो उस गर्जन का

स्वाद विलक्षण भाव से पाते हैं !' कहते हुए यतिश्वर ने सत्यशरण की तरफ कौतुकी निगाहों से देखा ।

सत्यशरण अपनी बनियान खिसकाकर, दीवाल से अपनी पीठ रगड़ते-रगड़ते बोले, 'अरे, भइया, अब इन सब बातों का जवाब दूं, इतनी ताब मुझमें कहां ! तुम ठहरे प्रोफेसर आदमी ! लेक्चर देना तुम्हारा पेशा ही है ! और ये तो महज़ नाटक-नावेल पढ़कर सीखी हुई विद्या से तुम्हें हरा देती हैं । मैं बिचारा तो तुम लोगों की आधी बातों का मतलब भी नहीं समझ पाता ! हुंहः, कैसी बहकी-बहकी बातें करते हैं लोग यहां···'

निवेदिता ने अचानक हंसते-हंसते पेट पकड़ लिया, 'सुन रहे हैं न, प्रोफेसर साहब, देख लीजिए ! इन बुड्ढे-खूसट के हाथों में पड़कर मेरी समुची ज़िंदगी ही मिट्टी हो गई ।'

सत्यशरण ने भी मनुहार से हंसते हुए कहा, 'हां-हां; खुद तो बिल्कुल आधुनिका तरुणी हो न ! क्यों, कितने दिन हुए तुम्हें दुनिया में आए ?'

'अरे, पुराने ज़माने की हूं या नये ज़माने की—इसके फैसले में क्या सिर्फ साल या तारीख की जरूरत पड़ती है ? इन सबका हिसाब बिल्कुल अलग है, समझे ? क्यों, आपका क्या ख्याल है प्रोफेसर साहब ?'

सत्यशरण ने हताश लहजे में कहा, 'देख लिया न, भैया, फिर वही बहकी-बहकी खामख्याली । लेकिन सच्ची, तुमने इतनी सारी बातें कहां से सीखीं, यह भी मेरी समझ के बाहर है । समंदर की खुली हवा में तुम्हारा दिमाग और खुल गया है, शायद ! बीच-बीच में तो मुझे यह आशंका होती है कि

तुम्हारी उम्र कहीं दस साल कम तो नहीं हो गई।'

किसी बाहरी आदमी के सामने कोई बात कितनी दूर तक खींचनी चाहिए और कहां फुलस्टाप लगा देना चाहिए, इतनी अक्लमंदी का विचारे सत्यशरण में निहायत ही अभाव है।

निवेदिता ने किंचित खीझकर कहा, 'अच्छा, बहुत हुआ! अब चुप करो! और कोई बात करने को नहीं है?... हां, तो अब जरा असली बात पर तो आएं, प्रोफेसर साहब! कोणार्क जाने का क्या बना? अगर ये बूढे हजरत जाने को राजी न हों, तो चलिए, हम लोग ही हो आएं। बाघ खाएगा, तो हमें ही खाएगा न! बस-बस का क्या इंतजाम है? फी आदमी कितना किराया है?'

काफी हुज्जत-हंगामे के बाद जाना पक्का हो गया।

आखिरकार सत्यशरण को राजी होना ही पड़ा। हालांकि निवेदिता ने उनकी कसकर खबर लेने की कोशिश की, 'क्यों, तुम्हें साथ चलने की क्या जरूरत है? तुम्हें तो किसी ने चलने को कहा नहीं। अरे, नहीं जाओगे, तो खुद पछताओगे! और अगर हम बाघ के पेट में चले ही गए, तो साबित हो जाएगा कि तुम जीत गए।'

स्वाद विलक्षण भाव से पाते हैं !' कहते हुए यतिश्वर ने सत्यशरण की तरफ कौतुकी निगाहों से देखा।

सत्यशरण अपनी वनियान खिसकाकर, दीवाल से अपनी पीठ रगड़ते-रगड़ते बोले, 'अरे, भइया, अब इन सब बातों का जवाब दूं, इतनी ताब मुझमें कहां ! तुम ठहरे प्रोफेसर आदमी ! लेक्चर देना तुम्हारा पेशा ही है ! और ये तो महज़ नाटक-नावेल पढ़कर सीखी हुई विद्या से तुम्हें हरा देती हैं। मैं विचारा तो तुम लोगों की आधी बातों का मतलब भी नहीं समझ पाता ! हुंहः, कैसी वहकी-बहकी बातें करते हैं लोग यहां...'

निवेदिता ने अचानक हंसते-हंसते पेट पकड़ लिया, 'सुन रहे हैं न, प्रोफेसर साहब, देख लीजिए ! इन बुड्ढे-खूसट के हाथों में पड़कर मेरी समुची ज़िंदगी ही मिट्टी हो गई।'

सत्यशरण ने भी मनुहार से हंसते हुए कहा, 'हां-हां, खुद तो बिल्कुल आधुनिका तरुणी हो न ! क्यों, कितने दिन हुए तुम्हें दुनिया में आए ?'

'अरे, पुराने ज़माने की हूं या नये ज़माने की—इसके फैसले में क्या सिर्फ साल या तारीख की जरूरत पड़ती है ? इन सबका हिसाब बिल्कुल अलग है, समझे ? क्यों, आपका क्या ख्याल है प्रोफेसर साहब ?'

सत्यशरण ने हताश लहजे में कहा, 'देख लिया न, भैया, फिर वही वहकी-वहकी खामख्याली। लेकिन सच्ची, तुमने इतनी सारी बातें कहां से सीखीं, यह भी मेरी समझ के बाहर है। समंदर की खुली हवा में तुम्हारा दिमाग़ और खुल गया है, शायद ! बीच-बीच में तो मुझे यह आशंका होती है कि

तुम्हारी उम्र कहीं दस साल कम तो नही हो गई ।'

किसी बाहरी आदमी के सामने कोई बात कितनी दूर तक खींचनी चाहिए और कहां फुलस्टाप लगा देना चाहिए, इतनी अक्लमंदी का विचारे सत्यशरण में निहायत ही अभाव है ।

निर्वेदिता ने किंचित खीझकर कहा, 'अच्छा, बहुत हुआ ! अब चुप करो ! और कोई बात करने को नही है ?··· हां, तो अब जरा असली बात पर तो आएं, प्रोफेसर साहब ! कोणार्क जाने का क्या बना ? अगर ये बूढ़े हजरत जाने को राजी न हों, तो चलिए, हम लोग ही हो आएं। बाघ खाएगा, तो हमें ही खाएगा न ! बस-वस का क्या इंतजाम है ? फी आदमी कितना किराया है ?'

काफी हुज्जत-हंगामे के बाद जाना पक्का हो गया ।

आखिरकार सत्यशरण को राजी होना ही पड़ा। हालांकि निर्वेदिता ने उनकी कसकर खबर लेने की कोशिश की, 'क्यों, तुम्हें साथ चलने की क्या जरूरत है ? तुम्हे तो किसी ने चलने को कहा नही। अरे, नही जाओगे, तो खुद पछताओगे ! और अगर हम बाघ के पेट में चले ही गए, तो साबित हो जाएगा कि तुम जीत गए ।'

सत्यशरण ने गंभीर होकर कहा, 'देखो, वार-वार ऐसी अपशकुन की वातें मुंह से निकालना ठीक नहीं है। हां, तो भैया, कुछ कर ही डालो! इस पार या उस पार! आज तक तो कभी ऐसा नहीं हुआ कि जो सनक इन पर सवार हुई उसे पूरा किए विना मान जाएं! तो ठीक है, तुम दोनों सारी वातें तय कर डालो, तव तक मैं जरा वाहर घूम आऊं!'

निवेदिता ने टोका, 'अभी कहां घूमने जा रहे हो?'

'अरे नहीं, भई, नहीं! कहीं घूमने-भटकने नहीं जा रहा। जरा, दुकान तक जा रहा हूं।'

'दुकान?' यतिश्वर ने पूछा, 'रात तो काफी हो गई है, इस वक्त कौन-सी दुकान···? अच्छा, चलिए, मैं भी चलता हूं।'

'अरे, नहीं! नहीं! ऐसी कौन-सी रात हुई है? मैं वस गया और आया। अभी आया!'

'वात क्या है?'

'यहां एक उड़िया पान वाले की दुकान है—वढ़िया पान लगाता है। दो-चार वीड़े ले आऊं, तो जमकर वैठा जाए।'

अचानक यतिश्वर ने पूछा, 'अच्छा, आपका वह उड़िया, भाभी से वेहतर पान लगाता है?'

'भाभी' शव्द आज पहली वार उनके मुंह से निकला था। सत्यशरण के कानों को यह शव्द नया लगा या नहीं, कौन जाने। वह तो थे अपनी ही धुन में मस्त। पैरों में चप्पल पहनते हुए उत्तर दिया, 'भई, मुझे कहना तो नहीं चाहिए। मेम साहव भड़क जाएंगी। लेकिन, इस पान का स्वाद वहुत मज़ेदार होता है। कमवख्त क्या-क्या गुंडी-मुंडी डालते हैं!'

सत्यशरण के जाते ही निवेदिता ने छूटते ही सवाल किया, अचानक यह नया संबोधन क्यों ?'

'कहां ?' यतिश्वर अनमने हो उठे, 'ओ'''भाभी' कहा, इसलिए ? अच्छा ही तो है । बात करने में सुविधा होगी ।'

'इतने दिन शायद बहुत असुविधा हो रही थी ?'

'नहीं, नहीं, यह कौन कहता है ?' वाक्‌पटु यतिश्वर भी इस वक्त बेहद अकेला और नर्वस हो आया । काश ! सत्य-शरण को जरा भी अक्ल होती ।

निवेदिता ने एक अजीब-सी हंसी हंसकर कहा, 'अपने को यूं किसी रिश्ते में बांधे बिना, आप निश्चित नहीं हो पा रहे हैं न ? सिर्फ दोस्ती बिल्कुल असंभव बात है न ?

यतिश्वर ने गंभीर आवाज में कहा, 'कौन जाने, इस 'असंभव' शब्द का कोई अर्थ है भी या नहीं। शायद नहीं होता । लेकिन मुश्किल तो यह है कि आप-जैसों को क्या कहकर पुकारा जाए, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता।

'मिसेज फलां' बोलने में भी तो बुरा लगता है।'

'तो फिर कुछ भी मत कहिए।'

'क्यों ? आपको ही भला किसी खास संबोधन से आपत्ति क्यों है ?'

'नहीं, आपत्ति भला क्या हो सकती है ?'

'बातों के लहजे से तो लग रहा है, बेतरह आपत्ति है। कोई बात नहीं, आज से वह कैंसिल। बताइए, आपको क्या कहकर बुलाया करूं ? मिसेज के बाद दूसरे का नाम न चलाकर, आपके नाम के साथ 'देवी' लगाकर बुलाए जाने में तो एतराज़ नहीं है ? लेकिन मुझे तो आपका नाम भी नहीं मालूम।'

'नाम तक नहीं जानते ? अचरज है !'

निवेदिता ने अस्फुट स्वर में अचरज प्रकट किया।

लेकिन इसमें उसे हैरत की ऐसी कौन-सी बात लगी ? उसका नाम जानना क्या यतिश्वर का आवश्यक कर्त्तव्य था ?

यतिश्वर ने कहा, 'नाम जानने का मौका ही कब मिला ? वह तो 'एजी, सुनती हो' कहकर काम चला लेते हैं।'

'इसीलिए आप भी यह 'भाभी-टाभी' कहकर काम चलाना चाहते थे, यही न ?'

'इसके अलावा और किसी बड़े हक की मांग किस भरोसे पर करूं, बताइए !'

महज़ बातों के लिए बातें होती रहीं। तलवार की बीच धार से अचानक ही फिसल पड़ी थीं वे बातें···धार की नोक तक जाने का साहस नहीं कर पाईं।

हालांकि यह शिष्टता के खिलाफ है, फिर भी अगर मैं आपका नाम पूछूं तो आप मुझे गलत तो नहीं समझेंगी ?'

'नाम जानने से लाभ ?'

'क्यों ? लाभ-नुकसान के हिसाब-किताब के अलावा क्या कहीं कुछ नहीं होता ? अक्सर सोचता हूं कि आपका क्या नाम हो सकता है ? मेरा मतलब है कि आप पर कौन-सा नाम फिट बैठता होगा ! लेकिन कभी पूछने का साहस नहीं कर पाया।'

'इसमें साहस की क्या बात है ? मेरा नाम निवेदिता है।'

यहां अस्त-व्यस्त हवाओं में तिलमात्र भी कमी नहीं है। बाल, साड़ी का आंचल हवा में उड़ा जाता है। समुद्र भी

दिखाई नहीं देता, सिर्फ उसका कल्लोल-भर सुनाई देता है।

नीचे रास्ते पर सत्यशरण आते हुए दिख गए। ढीला-ढाला चेहरा। देह पर सिर्फ एक गंजी।

'क्यों जी, प्रोफेसर, काम की बातें कहां तक बढ़ीं ?'

प्रोफेसर के जवाब देने के पहले निवेदिता ने ही उत्तर दे डाला, 'यह बात तो पक्की हो गई। मेरी इच्छा ही तय बात है !'

'खैर, वह तो मैं जानता हूं। जब ज़िद चढ़ गई है तब···। इसी···इसी छोकरे ने मेरी बीवी का दिमाग खराब किया। मेरे घर की गिन्नी को···क्या तो कहते हैं—तुम लोगों में··· हां···, 'तरुणी' बनाकर ही छोड़ा !'

कोणार्क जाने के लिए इतना हुज्जत-हंगामा, इतनी उठा-पटक हुई, और वहीं मिट्टी हो गया।

निवेदिता अपने बिस्तर-कपड़े समेटने में जुट गई।

गौतम का खत आया है—फटिक को बुखार आ रहा है और स्टोव जलाते हुए उसने अपनी अंगुलियां जला ली है। 'तुम लोग लौट आओ।' 'मुझे तकलीफ हो रही है,' यह उसने नहीं लिखा। कलकत्ता की इधर-उधर की खबरों में, महज *सूचना के लिए यह खबर भी दे दी गई थी।*

लेकिन इसके कारण कोई मान ठानना मां-बाप को शोभा नहीं देता। मुझे तुम लोगों की जरूरत है—यह कहना तो दूर की बात है, बच्चे अगर स्पष्ट भाव से यह भी जाहिर कर दें कि मुझे तुम लोगों की बिल्कुल जरूरत नहीं है, फिर भी मां-बाप भला चैन से रह सकते हैं ?

निवेदिता ने उस खत को दो-तीन बार उलट-पलटकर पढ़ा। पति से पूछा, 'तुम तो कह रहे थे, गौतम ने लौट आने को लिखा है ? कहां लिखा है ?'

'एक ही बात है। वे लोग इसी तरह कहते हैं। तुम अपने बेटे को नहीं पहचानतीं ? वह क्या मान त्यागकर *कहेगा, तुम लोग चले आओ ?'*

'मान खोने का फर्ज हमेशा हमीं लोगों को निभाना चाहिए, क्यों ?'

'उफ ! क्या मुश्किल है ! अब तुम यह सब अांय-बांय क्या बकने लगी ? फटिक को बुखार है, उसका हाथ जल गया है—यह सब सुनकर भी तुम निश्चित रह सकती हो ?'

'हां, कैसे रह सकती हू ? खैर, जा तो रही हूं !'

यतिश्वर यह सूचना देने आए थे कि वस का इंतज़ाम हो गया है। अगले दिन भोर में वस रवाना होगी। रात के अंतिम प्रहर तक तैयारी पूरी कर लेनी होगी।

कमरे में कदम रखते ही उनकी निगाहें खुले हुए वक्से के सामने चुपचाप वैठी हुई निवेदिता पर अटक गईं। सत्य-शरण घर में नहीं थे। मेन गेट, सीढ़ी के दरवाजे, सवके सव खुले पड़े थे।

उनके चेहरे पर एक हंसी खेल गई, 'क्या वात है ? अचानक चोरों के प्रति इतनी सहानुभूति क्यों ? लगता है, अपना सव कुछ उनके हाथों सौंप देने को प्रस्तुत हो उठी हैं !'

आहट पाकर निवेदिता ने पीछे मुड़कर देखा। सिर का पल्ला ठीक करते हुए कहा, 'ओ···आप हैं ! वह तो अभी-अभी वाहर चले गए।'

यानी दरवाजा खुला होने की वस इतनी-सी कैफियत देकर, निवेदिता ने छुट्टी पा ली। ऐसा लग रहा था, मानो

वह बेहद थक गई है, ज्यादा कुछ बोलने की भी ताकत चुक गई है।

यतिश्वर ने इधर-उधर नजरें दौड़ाते हुए चकित आवाज में पूछा, 'यह क्या ? इतना कुछ क्यों फैला लिया ? घर-वर बदल रही हैं ?'

'घर नहीं, देश ही बदल रही हूं। कलकत्ता वापस जा रही हूं ?'

'वापस जा रही हैं ?'

'हां।'

'कब ?'

'आज रात को ही···।'

मिनट-भर को चुप्पी छा गई।

यतिश्वर ने लगभग अस्फुट आवाज में पूछा, 'इतना··· अचानक···?'

'ज़िंदगी में सभी कुछ तो बिल्कुल अचानक ही घटता है न, प्रोफेसर साहब !' निवेदिता मृदुल-सी हंसी हंस पड़ी।

'लेकिन क्यों ?'

यतिश्वर की सांसें तेज हो उठीं। मर्द होते हुए भी छाती धड़कने लगती है।

सत्यशरण को क्या कोई शक हो गया है ? निवेदिता को लेकर कोणार्क जाने के प्रस्ताव के प्रति क्या उन्होंने जरूरत से ज्यादा आग्रह दिखाया था ? अतः शंकित आवाज में पूछा, 'लेकिन···क्यों ?'

गौतम का खत आया है। नौकर बीमार, खुद पूड़ियां उतारते हुए हाथ जला बैठा है···'

'ओ···यह बात है !'

यतिश्वर की धड़कनें कुछ सहज हो आईं। भय की जगह अब हताशा ने ले ली।

'लेकिन···एकदम से आज ही ? ज्यादा जल गया है क्या ?'

'साफ-साफ कुछ नहीं लिखा। लेकिन अब आज या कल जाना जब निश्चित है, तब इसे लेकर मैंने बहस नहीं की।'

'नहीं। मैं कह रहा था, कोणार्क हो आतीं, फिर परसों रात की गाड़ी से लौट सकती थीं।'

'नहीं, यह नहीं हो सकता।'

अचानक यतिश्वर का स्वर अतिशय व्यग्र हो उठा, 'क्यों नहीं हो सकता ? एक दिन में ऐसा क्या आता-जाता है ? आप साथ होंगी, यह सोच-सोचकर मैं कल से ही···'

'कल से ही क्या ?'

'नहीं, कुछ नहीं। मैं कह रहा था, एक दिन के फर्क से क्या आता-जाता है ?'

'नहीं, शायद कुछ भी नहीं आता-जाता। लेकिन फिर भी असंभव है।'

'बिल्कुल असंभव ?'

'हां, बिल्कुल असंभव। आपके यह भोले शंकर दादा हर बात को प्रश्रय दे सकते हैं, लेकिन मातृ-स्नेह की त्रुटि वह कभी माफ नहीं करेंगे !'

'जिंदगी में अब दुबारा कभी पुरी नही आएंगी न ?

'उम्मीद तो नही है···'

'पुरी के बारे में सब कुछ भूल जाएंगी न ?'

'हां, असंभव क्या है ?···इंसान क्या कुछ नही भूल सकता ?' कहते हुए वह हस दी है, 'नहीं, मैंने थोड़ा-सा गलत कहा। कहना चाहिए था, औरतें क्या कुछ नही कर सकती। ···खैर, छोड़िए ! आप बताइए, आप कब लौट रहे हैं ?'

'कौन जाने, आज ही···'

निवेदिता शंकित हो उठी, 'अरे···!'

'क्यों, साथ चलूं तो गुनाह है ?'

निवेदिता के होंठों पर सूखी-सी हंसी तैरगई, 'गुनाह की बात नही है। लेकिन आप भला अभी क्यों जाएंगे ? आपके जाने की तो कोई वजह नही पैदा हुई !'

यतिश्वर ने अपना चश्मा उतारकर, रूमाल से पोंछते हुए कहा, 'अगर मैं कहूं, वजह है !'

'आप न···क्रमशः अजीब रहस्यमय होते जा रहे हैं !' वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और एकबारगी कह उठी, 'नहीं, नहीं, यह बहुत गंदा लगेगा। अचानक आज ही आप क्यों जाएंगे ?'

'आप मना कर रही हैं ?'

'अजीब बात है। आपकी सारी गतिविधियां क्या मेरी अनुमति से नियंत्रित हैं ? अचानक आज ही आप भी चल दें, तो कहीं कुछ अजीब लगेगा, शायद इसीलिए कहा था।'

उसने अपनी बात पूरी की ही थी कि दरवाजे के बाहर से सत्यशरण की आवाज सुनाई दी।

'भैया, तुम यहां हो ? और मैं तुम्हें होटल तक खोज आया।'

यतिश्वर चौंक उठे, 'खोज आए ! क्यों ?'

'अरे, वाह ! यह नयी खबर जो देनी थी, और क्यों ? तुमने क्या सारा कांड सुना नहीं ?'

यतिश्वर जाने क्या जवाब देने जा रहे थे कि अचानक उन्हें स्तंभित करते हुए, उनकी बात छीनकर बेहद सहज स्वर में निवेदिता ने कहा, 'अब रहने भी दो ! तुम्हारी नयी खबर की तारीफ अब होने से रही। यतिश्वर बाबू के अचानक आने का कारण मालूम है ? वह यह कहने आए थे कि कल वह कोणार्क नहीं जा सकेंगे।' आज रात ही उन्हें कलकत्ता वापस लौटना है।'

'अरे···!'

'अरे क्या ? मैं भी सुनकर अचकचा गई थी। मैंने मन ही मन सोचा—बाप रे, यह सब क्या ? लगता है, हम लोग कोई नजरबंद आसामी है और ये साहब पुलिस-अफसर। सचमुच, अजीब संयोग है !'

सत्यशरण ने पसीने में तर-ब-तर कमीज उतारते हुए कहा, 'चलो, अच्छा ही हुआ। लेकिन भई, तुम्हारा चक्कर क्या है ? बीबी-बच्चे···कुछ भी तो नही है। किसकी जरूरत आन पड़ी ?'

यतिश्वर ने बमुश्किल जवाब दिया, 'कल कालेज की बोर्ड-मीटिंग है। आज ही खबर मिली।'

निवेदिता ने जल्दी-जल्दी काम निपटाते हुए कहा, 'अरे, कहते हैं न···भगवान···भगत के राखनहार ! अकेले-अकेले इतना सारा ताम-झाम समेटकर कैसे पहुंचोगे, अकेले टिकट-विकट कैसे कटाओगे, ट्रेन कैसे पकड़ पाओगे—यह सब सोच-सोचकर तुम परेशान हो रहे थे न, भगवान ने मददगार भेज दिया। आप एक काम कीजिए यतिश्वर बाबू, आपका जो सामान-वामान है, सब ले-वेकर शाम को यही चले आइए—यहा से एकसाथ ही···'

सत्यशरण ने भी खुशी-खुशी उसकी बात की हिमायत करते हुए कहा, 'हां-हा, ठीक। यही ठीक होगा ! देखा न भैया, हमारी गिन्नी कैसी चालाक है, अपनी सुविधा के लिए उनकी बुद्धि कितनी तेज दौड़ती है !'

यू सचमुच, सत्यशरण चिंता के मारे परेशान थे।

इसी परेशानी की वजह से ही तो वह यतिश्वर के पास यह कहने को दौड़े गए थे कि वह उन लोगों को स्टेशन तक

यतिश्वर ने अपना चश्मा उतारकर, रूमाल से पोंछते हुए कहा, 'अगर मैं कहूं, वजह है!'

'आप न···क्रमशः अजीब रहस्यमय होते जा रहे हैं!' वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और एकबारगी कह उठी, 'नहीं, नहीं, यह बहुत गंदा लगेगा। अचानक आज ही आप क्यों जाएंगे?'

'आप मना कर रही हैं?'

'अजीब बात है। आपकी सारी गतिविधियां क्या मेरी अनुमति से नियंत्रित हैं? अचानक आज ही आप भी चल दें, तो कहीं कुछ अजीब लगेगा, शायद इसीलिए कहा था।'

उसने अपनी बात पूरी की ही थी कि दरवाजे के बाहर से सत्यशरण की आवाज सुनाई दी।

'भैया, तुम यहां हो? और मैं तुम्हें होटल तक खोज आया।'

यतिश्वर चौंक उठे, 'खोज आए! क्यों?'

'अरे, वाह! यह नयी खबर जो देनी थी, और क्यों? तुमने क्या सारा कांड सुना नहीं?'

यतिश्वर जाने क्या जवाब देने जा रहे थे कि अचानक उन्हें स्तंभित करते हुए, उनकी बात छीनकर बेहद सहज स्वर में निवेदिता ने कहा, 'अब रहने भी दो! तुम्हारी नयी खबर की तारीफ अब होने से रही। यतिश्वर बाबू के अचानक आने का कारण मालूम है? वह यह कहने आए थे कि कल वह कोणार्क नहीं जा सकेंगे।' आज रात ही उन्हें कलकत्ता वापस लौटना है।'

'अरे···!'

'अरे क्या ? मैं भी सुनकर अचकचा गई थी। मैंने मन ही मन सोचा—बाप रे, यह सब क्या ? लगता है, हम लोग कोई नजरबंद आसामी है और ये साहब पुलिस-अफसर। सचमुच, अजीब संयोग है !'

सत्यशरण ने पसीने में तर-ब-तर कमीज उतारते हुए कहा, 'चलो, अच्छा ही हुआ। लेकिन भई, तुम्हारा चक्कर क्या है ? बीवी-बच्चे…कुछ भी तो नहीं हैं। किसकी जरूरत आन पड़ी ?'

यतिश्वर ने बमुश्किल जवाब दिया, 'कल कालेज की बोर्ड-मीटिंग है। आज ही खबर मिली।'

निवेदिता ने जल्दी-जल्दी काम निपटाते हुए कहा, 'अरे, कहते हैं न…भगवान…भगत के राखनहार ! अकेले-अकेले इतना सारा ताम-झाम समेटकर कैसे पहुंचोगे, अकेले टिकट-विकट कैसे कटाओगे, ट्रेन कैसे पकड़ पाओगे—यह सब सोच-सोचकर तुम परेशान हो रहे थे न, भगवान ने मददगार भेज दिया। आप एक काम कीजिए यतिश्वर बाबू, आपका जो सामान-बामान है, सब ले-वेकर शाम को यहीं चले आइए—यहां से एकसाथ ही…'

सत्यशरण ने भी खुशी-खुशी उसकी बात की हिमायत करते हुए कहा, 'हां-हां, ठीक। यही ठीक होगा ! देखा न भैया, हमारी गिन्नी कैसी चालाक है, अपनी सुविधा के लिए उनकी बुद्धि कितनी तेज दौड़ती है !'

यूं सचमुच, सत्यशरण चिंता के मारे परेशान थे।

इसी परेशानी की वजह से ही तो वह यतिश्वर के पास यह कहने को दौड़े गए थे कि वह उन लोगों को स्टेशन तक

छोड़ आएं। यह तो बहुत ही अच्छा हुआ।
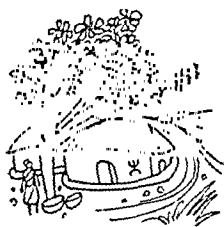
गिन्नी की चालाक बुद्धि का परिचय पाकर, आनंद में डूबे हुए सत्यशरण सफर के समय खुद ही एक मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव कर बैठे।

उन्होंने कहा कि टिकट के रुपये, सामान और निवेदिता को लेकर यतिश्वर जरा पहले ही स्टेशन चले जाएं। सत्यशरण घर में ताला लगाकर, उसकी चाबी सौंपने के लिए, घर के मालिक के एक रिश्तेदार के पास 'चटक पहाड़' जाएंगे, फ़िर वहां से सीधे स्टेशन पहुंच जाएंगे।

बिल्कुल सीधा-सादा हल था।

यतिश्वर ने असहाय होकर कहा, 'उन रिश्तेदार का घर कहां है ? मुझे बता दीजिए, न हो, मैं ही चाबी दे आऊंगा। तब तक आप गाड़ी में...'

'ओ, नहीं, नहीं। अच्छा नहीं लगेगा। हमारे लिए वह लोग चौकी, दरी, बाल्टी, चूल्हा—जाने क्या-क्या पहुंचा गए थे, इसके लिए उन्हें धन्यवाद तो दे आऊं। असल में यूं अचानक चले जाने का प्रोग्राम नहीं था न ! मैंने तो सोचा था कि उन सज्जन को एक दिन अपने यहां दावत दूंगा लेकिन

नहीं हो पाया।…तुम गाड़ी की चिंता मत करो। मैं पैदल तो जा नहीं रहा हूं। एक सायकिल-रिक्शा ले लूंगा। लेकिन तुम लोग बस चल दो।…कहां हो जी, लो, चटपट तैयार हो जाओ। तुम लोगों को घोड़ा-गाड़ी पर चढ़ाकर, तभी तो ताला लगाऊंगा।'

निवेदिता ने इशारे से पति को अलग ले जाकर विपन्न लहजे में कहा, 'अच्छा, तुम में साधारण-सी बुद्धि की भी इतनी कमी क्यों है, बताओ तो! तुम अचानक इस तरह का प्रस्ताव क्यों कर बैठे?'

सत्यशरण ने हड़बड़ाते हुए कहा, 'कैसा प्रस्ताव?'

'यही—जितना सारा निर्जीव-सजीव सामान था, सब यतिश्वर बाबू के सिर पर थोपकर, खुद हाथ-पांव झाड़कर मज़े में…'

सत्यशरण ने जोर का ठहाका लगाकर कहा, 'ओ, यह बात है! सो, तुम उसकी चिंता मत करो। अपना प्रोफेसर बुरा नहीं मानेगा। असल में बहुत भला लड़का है!'

'हूं, भला होने की वजह से उस भलेमानस को काफी

सुविधा उठानी पड़ रही है। लेकिन मैं···मेरा मतलब था,
ह क्या बहुत अच्छा लगेगा ? अकेली मैं उनके साथ खट्-खट्
करती चली जाऊं, तुम अलग जाओ ? यह क्या शोभन
होगा ?'

सत्यशरण ने फिर एक ठहाका लगाया, 'राम-राम !
इत्ती-सी बात के लिए तुम इतनी परेशान हो रही हो ! नन्ही-
मुन्नी बच्ची हो न ! अरे, कोई कुछ कहकर तो देखे, किसके
सिर पर काल नाच रहा है ?'

'हुंह···बोलने के लिए यहां कोई बैठा नहीं है ! लेकिन
···मान लो, मैं ही उसके साथ भाग जाऊं ?'

निवेदिता की छाती तेज-तेज धड़क उठी। उसके चेहरे
का रंग भी अस्वाभाविक रूप से लाल हो आया।

'हां, चाहो तो भाग जाना ! लेकिन जहां भी जाना,
पता-ठिकाना देती जाना !'

सत्यशरण की निगाहों में ऐसा कुछ भी नहीं आया। वह
अपनी ही धुन में फिर एक बार हंस पड़े।

निवेदिता का चेहरा विरक्ति से सिकुड़ आया। मानो पति के इस बचपने और नासमझी पर वह मुश्किल में पड़ गई हो। लेकिन उस विरक्ति की छाया तले कहीं एक खुशी की आभा चमक उठी थी। किसी किशोरी के चेहरे पर जैसे किसी प्रत्याशित संभावना की रोशनी झिलमिला उठी हो।

घर से स्टेशन तक का रास्ता आखिर कितना-सा होता है? सवारी से जाते हुए, बहुत अधिक हुआ, तो यही कोई आठेक मिनट।

लेकिन इत्ती-सी देर में क्या समूची दुनिया एक बार उलट-पलट नहीं सकती?

लेकिन उलट-पलट की क्या जरूरत है? यह समूची दुनिया निश्चिह्न हो सकती है, अगर महासागर के मन में किसी पागल पुकार का तूफान जाग उठे।

आठ मिनट का समय क्या कम होता है?

शायद, कम होता हो !

हां, हिम्मत जुटाने में ही तो आधा वक्त गुजर जाता है !
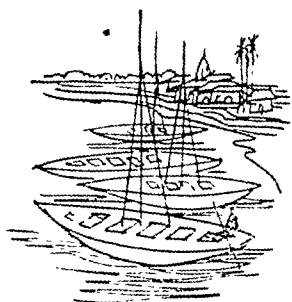
चलती हुई गाड़ी और तूफानी हवा में, किसी मृदुल उच्छ्वास की तरह, कुछेक शब्दों के टुकड़े सुनाई पड़े, 'जानती हैं, मेरी ज़िंदगी में ऐसा भयंकर मुहूर्त्त कभी नहीं आया !'

'भयंकर ! भयंकर किसके लिए ?'

निवेदिता मानो अपने में वापस लौट आई और चकित निगाहों से चारों तरफ देखा। वह क्या उन बर्तन-भांड़ों या बक्से-बिछौने से ही ताकत बटोरने की कोशिश कर रही थी ?

कौन जाने, उसे क्या हो गया था !

यों तो वह हंस रही थी।

'भयंकर नहीं, शोचनीय कहिए ! कर्त्ता-गिन्नी ने मिलकर आपको कैसा सबक सिखाया ? उफ ! लेकिन उस समय वाकई मुझे बहुत मज़ा आया। आप शायद मेरी चालाकी

लेकिन दु:साहसिक क्यों ?

तुम्हारा हृदय, अपने हृदय—आलोक में
पल-पल देखा, जाने कितनी वार !

सचमुच, अपने हृदय के आलोक में निवेदिता के भी हृदय के पल-पल साथी नहीं रहे हैं वह ? यह आलोक भी उनके मन में स्वयं निवेदिता ने ही अपने हाथों जलाया था न ?

अत: दु:साहसिक भला क्यों ?

यतिश्वर के तरंगहीन चिरकुमार जीवन में, जिसने इतनी सारी अनजान अनुभूतियों का आवेग जगा दिया था, उसे भी तो इन लहरों के व्याकुल थपेड़े सहने होंगे न ?

लेकिन इन आकुल पुकारों के प्रतिउत्तर से निवेदिता में कहीं कोई कंपन, कोई सिहरन नहीं हुई। वह तो पागलों की तरह हंस पड़ी। उसने आहत-अपमानित यतिश्वर को अपनी निर्मम हंसी की धार से टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा, 'यह क्या वचपना है ! लगता है, आपको कोई वीमारी लग गई है। सारा कुछ मिट्टी कर दिया।'

'निवेदिता !···प्लीज़···ऐसे मत हंसो···'

'अरे, अरे, यह क्या हरकत है ! आपकी वातों पर कोई हंसे विना रह सकता है ?'

और उसने धीरे-धीरे अपना हाथ यतिश्वर के हाथ से छुड़ा लिया।
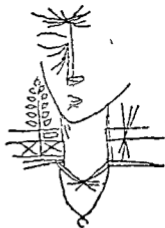
छुड़ा लेने के अलावा और राह भी क्या थी ?

उसे न छोड़ती तो बहुत कुछ छोड़ना पड़ता न !

अगर वह असावधान हो जाती, तो गृहिणी निवेदिता के अंतर्मन में छुपी हुई असली निवेदिता प्रकट हो जाती। अगर यह वाकई सच हो जाता, तो उसका अपना ही किया-धरा सब मिट्टी हो जाता !

गौरव···सम्मान···पद-मर्यादा···विश्वास !

लेकिन असली निवेदिता, क्या आज के बाद भी कहीं किसी कोने-कोने में ज़िंदा बच जाएगी ? वह सचमुच की निवेदिता, जो खुद किसी चेतना की आड़ में रहकर, गृहस्थिन निवेदिता को असीम ताकत देती रही है, क्या आज के बाद कहीं जी पाएगी ?

शायद अब निवेदिता के रसोईघर में धूल-जाले, तेल की पर्तें जमती रहें, या भंडार की शीशी-बोतलों पर धूल की मोटी तह चढ़ जाए, या उसके तकिये के गिलाफों पर तेल के बदनुमा धब्बे नज़र आने लगें···लेकिन निवेदिता उदासी और अवसाद में डूबी हुई, हाथ पर हाथ धरे, चुपचाप बैठी रहेगी।

अचानक वह निःशेष हो जाएगी ! चुकी हुई !

जिन ज़िम्मेदारियों को वह ज़िंदगी की अनिवार्य शर्त की तरह, अनायास ही संग-संग लिये फिरती थी, मुमकिन है, अब वह किसी भारी-भरकम पहाड़ की तरह हो आएं !

निवेदिता के मन में भी हठात् जो वृंदावन उभर आया था, जिसने उसके भीतर सोए हुए प्यार और डूबी हुई साधों को हिलोर दिया था, ज़िंदगी की रेत ने उसे सोख लिया। बच रहा था महज़ रेत का वृंदावन !